EC4·5 26/2/2

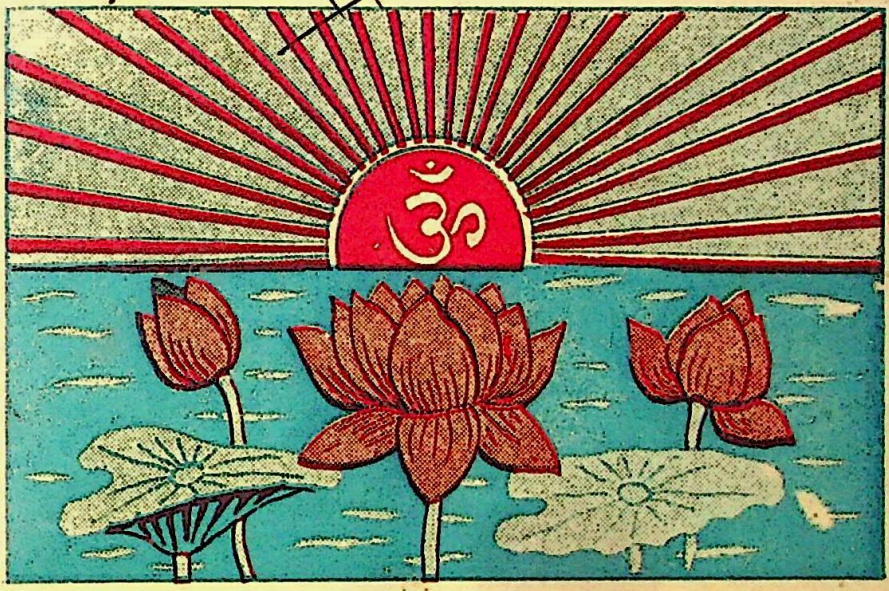

H·S·5· 70

श्री श्री युगाचार्य जीवन चरित

1
Accession No. 4756

प्रणव मठ द्वारा
सर्वाधिकार सुरक्षित

स्वामी वेदानन्द

QZW M96 1982

गीत।

G2wM96
15215
9482

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय, वाराणसी।

QZWM96 १४४८

भारत सेवाश्रम सघ के प्रतिष्ठाता आचार्य श्रीमत् स्वामी प्रणवानन्द जी का जीवन-चरित

स्वामी वेदानन्द

भारत सेवाश्रम संघ

प्रकाशक—
स्वामी आत्मानन्द
भारत सेवाश्रम संघ
२११, रासबिहारी एवेन्यु
बालीगंज, कलकत्ता-१९

QZWM96
15215

प्रथम संस्करण
वि० संवत्—२०२२

[श्री श्री प्रणवमठ द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित]

© [illegible] वेद वेदान्त पुस्तकालय
[illegible] 1648

मुद्रणकर्ता—रामरतनलाल गुप्त
नारायण प्रिंटिंग प्रेस
किरांना बाजार, फर्रुखाबाद
[उत्तर प्रदेश]

प्रकाशक का निवेदन

भारत सेवाश्रम संघ के प्रतिष्ठाता धर्मसंस्थापक, जाति संगठक व समाज-संस्कारक अलौकिक तपःशक्ति सम्पन्न आचार्य श्रीमत स्वामी प्रणवानन्द जी की पुण्य जीवनलीला का यह प्रथम संक्षिप्त हिन्दी संस्करण प्रकाशित हुआ। भारतवर्ष तथा हिन्दू जाति के आसन्न महा विपर्यय को अपनी तपःपूत दृष्टि से प्रत्यक्ष कर आचार्यदेव अतिमात्र चिन्तित व विचलित होकर दिन रात उसके कल्याण मार्ग को प्रस्तुत करने के लिये अतन्द्ररूप से परिश्रम कर गये हैं। उनकी आर्ष दृष्टि ने हिन्दू जाति के जिस महादुर्दिन का स्वरूप प्रत्यक्ष किया था क्रमशः उसका ताण्डव रूप हम लोगों के सामने आ रहा है। आचार्यदेव ने इसी महामृत्यु से आर्य हिन्दू जाति को बचाने के लिने अपना अमोघ निर्देश-कर्मपन्था व अक्षय आशीर्वाद को संघ शरीर में सुरक्षित रखा है। दुर्भाग्य का विषय यही है कि यथा समय उनकी वाणी व कर्म-निर्देश को जाति ग्रहण न कर पाई। तथापि आचार्य का आश्वासन व आशीर्वाद हमें कल्याण के मार्ग पर अवश्य ले जायेगा।

विश्वनियन्ता भगवान का अवश्यम्भावी विधान ही युग के आचार्य में मूर्त्त रूप धारण करता है। महान आचार्य के जीवन व कर्मलीला के माध्यम से ही हिन्दू जाति व जगत के कल्याण का मार्ग उदघाटित हुआ है। जब तक न भगवत विहित युगाचार्य—प्रदर्शित मार्ग को हिन्दू जाति

ग्रहण व अनुसरण करेगी, तब तक विपद के ऊपर महाविपद ध्वंस के बदले महाध्वंस की दावाग्नि प्रबल वेग से परिवर्द्धित होती जायेगी। अपितु जितनी शीघ्रता से जाति युगनियन्ता के निर्देश का अनुसरण करेगी व अपने सनातन आर्दश को अपनायेगी उतनी ही द्रुत गति से हमारी विपत्तियों का ह्रास होगा। आचार्यदेव के उत्तर साधक सन्यासीगण आचार्य प्रवर्त्तित कर्म चक्र के अनुशीलन में सतत् व्यस्त हैं। अतः अत्यन्त समयाभाव व कर्म व्यस्तता में यह संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित किया गया है।

जन साधारण के लिये सुलभ हो-इसका ध्यान रखते हुये पुस्तक का मूल्य निर्धारित किया गया है। अनेक प्रकार की असुविधाओं के बीच में यथेष्ट प्रयास करने पर भी पुस्तक में अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं। विराम चिन्हों का व्यतिक्रम तथा अन्य अस्पष्टतायें भी अनेक स्थलों पर हैं। अतः पाठक पाठिकाओं से इसके लिये क्षमा चाहता हूं। इति

प्रकाशक

ॐ

भूमिका

विश्व-प्रवाह में जब जब नवीन युग की सूचना होती है तब उस युग सन्धिक्षण में एक एक युगमानव का आविर्भाव होता है। उनको भागवत पुरुष, अवतार, आचार्य नेता, गुरु, परित्राता या महामानव जो कुछ भी कहो, उनके जीवन से आगामी युग की व्यथा-वेदना, अभाव—अशान्ति, आशा-आकांक्षा, संशय-समस्या का समाधान तथा उनकी साधना, तपस्या, चिन्ता-भावना एवं कृपा से समस्त यातनाओं के प्रतिकार के उपाय का इंगित प्राप्त होता है। भागवत् में ऋषि ने कहा है—"अवतारा: ह्यसख्येया: इस प्रकार के अतिमानव व्यक्तित्व अनेक प्रकार के होते हैं।

जब जब ऐसे महामानव के प्रवर्त्तित आदेश व अवदान क्रमश: विकसित होकर मनुष्य समाज की साधना तथा संस्कृति के भण्डार को समृद्धतर व पूर्णतर करके शक्ति...शान्ति तथा मुक्ति का मार्ग प्रदर्शन करते हैं—तब तब साधारण जन-गण उस विराट पुरुष को समझ नहीं पाते। अत: वे उन्हे विश्वास तो कर ही नहीं सकते प्रत्युत अन्तर—बाहर से उनका विरोध करते हैं। इसीलिये भगवान श्री कृष्ण ने कहा है :—

"अवजानन्ति मां मूढ़ा: मानुषीं तनुमाश्रितम"

परन्तु समय की गति के साथ साथ जब उनके जगत कल्याण मूलक भाव विकास प्राप्त कर आनन्द, कल्याण तथा शान्ति का सन्देश विकीर्ण करते रहते हैं तब धीरे धीरे मानव-समाज उनके विषय में अवहित होता है। तथा एक समय ऐसा भी आता है जब उनके महान भाव-समुद्र में तथा अविराम कर्म प्रवाह में मनुष्य अपने को निमज्जित कर परम शान्ति का

अनुभव करते हैं। साथ ही उस विराट शक्ति के प्रत्येक चिंता वाक्य व कार्य में जगत कल्याण का भाव देख कर विस्मित हो जाते हैं। और अन्त में स्वयं भी उस विराट के भाव-संस्पर्श में आने के लिये अत्यन्त आग्रहपूर्वक आकुल हो उठते हैं।

संघनेता आचार्य स्वामी प्रणवानन्द जी के विषय में किसी भी प्रकार की जन-धारणा क्यों न हो परन्तु इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं कि उनके दिव्य जीवन के आदर्श-साधना तथा कार्यक्रम में भविष्य युग की असंख्य समस्याओं का समाधान मिलता है। भगवान श्री रामचन्द्र श्रीकृष्ण भी एक एक युग के मूर्त्त समाधान थे तथागत बुद्ध, आचार्य शंकर, महाप्रभू चैतन्य आदि महामानव गण भी अपने दिव्य चरित्र द्वारा तत्कालीन युग की अनन्त समस्याओं का समाधान करते गयेहैं।

परन्तु काल की गति चिरपरिवर्तनशील है। फिर से युग परिवर्तन होता है। तथागत बुद्ध की अहिंसा साधना का युग चला गया। आचार्य शंकर का वेदान्त की नींव पर वर्णाश्रम के आधार पर समाजगठन का युग भी जाता रहा, महाप्रभु चैतन्य देव के हरिनाम का वह प्रबल-प्रवाह भी आज नहीं है। वर्तमान तथा निकटवर्ती भविष्य युग की गति सम्पूर्णतया भिन्न प्रकार की प्रतिभात हो रही है। इस युग के अभाव अशान्ति व्यथा-वेदना आशा-आकांक्षा-जीवन की असंख्य समस्याओं की अवस्था सम्पूर्ण रूप से विलक्षण है।

इस युग में दैवी सभ्यता-संस्कृति के साथ आसुरी सभ्यता का संग्राम चल रहा है। आर्य आध्यात्मिक आदर्श साधना पर जड़ वैज्ञानिक व नास्तिक आदर्श साधना का आक्रमण है। जड़-सभ्यता-संस्कृति के उपासक विश्व के

समस्त शक्तिशाली राष्ट्र आध्यात्मिक आदर्श व साधना के साधक व धारक भारतीय हिन्दू-जाति को आत्मसात् करने में प्रयत्नशील हैं।

व्यक्तिवाद, भोगवाद, समानाधिकारवाद के व्यर्थ आडम्बरों की सहायता से मनुष्य भगवान् के अस्तित्व को अस्वीकार करता है। धर्म के नाम से अरुचि प्रगट करता है। भक्ति-श्रद्धा-विनय-सरलता-कृतज्ञता-सहानुभूति-संयम-सतीत्व की तिलांजलि देकर नरनारी स्वेच्छाचारी बन रहे हैं। व्यक्तिगत स्वार्थ तथा भोग-साधना ही सब कर्मों का मूल सूत्र बना है। पार्थिव जीवन ही यथा सर्वस्व है। इह लोक ही सुख-साधन-प्राप्त करने का चरम स्थान है। भगवान्-परलोक-स्वर्ग-नरक इत्यादि तो दुर्बल मन की कल्पना है। "यावत जीवेत् सुखं जीवेत्" अथवा Eat-drink and be merry ही इस युग की आत्मघाती मनोवृत्ति है। इस भावना तथा आदर्श के प्रभाव से व्यष्टि तथा समष्टि जीवन में संघर्ष की दावाग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी है। परिणाम यह हुआ है कि पारिवारिक जीवन से श्रद्धा-भक्ति-स्नेह-प्रेम प्रीति का बन्धन एवं परस्पर दायित्व तथा कर्त्तव्य बोध की भावना आज लुप्त प्रायः हो रही है। सामाजिक जीवन से सहानुभूति,सहयोगिता तथा एकता की भावना जाती रही है।

आज सर्वत्र शक्तिमान, धनवान,कूटनीतिज्ञों का बोल बाला है। दुर्बल असहाय, दरिद्र-सीधे-सरल लोगों का शोषण, पेषणा तथा उत्पीड़न हो रहा है। आज संसार में व्यक्ति-व्यक्ति में श्रेणी श्रेणी में सम्प्रदाय-सम्प्रदाय में राष्ट्र, राष्ट्र में जाति जाति में विरोध की ईर्ष्याग्नि जल रही है। इस प्रलय की नरकाग्नि में मनुष्य जाति दग्ध हो रही है। भोग-सर्वस्व-आत्म केन्द्रिक सभ्यता संस्कृति का यही शोचनीय भयंकर परिणाम है।

आसुरिक-सभ्यता-संस्कृति का आत्मघाती प्रवाह अंग्रेजी शासन के मार्ग से भारतीय जीवन के अन्तर तक पहुँच चुका है। तथा सनातन काल से दुर्भेद्य आध्यात्मिक प्राचीर को भी आज वह भंग करके हिन्दू जाति के जीवन की शेष-समाधि रचना करने की प्रस्तुति कर रहा है। आज घोर विडम्बना तो यह है कि आर्य हिन्दू-समाज छिन्नभिन्न ध्वस्त-दुर्बल तथा आत्मरक्षा में असमर्थ होकर किसी भ्रान्त पथ का अनुसरण कर रहा है अतः इस जड़ सभ्यता के प्रचन्ड वेग को वह कैसे प्रतिरोध करेगा यही एक विचारणीय समस्या है। आज केवल इतना ही नहीं है कि आर्य सभ्यता-संस्कृति आपद् ग्रस्त है परन्तु उसके उत्तराधिकारी आर्यहिन्दू का सामाजिक तथा जातीय जीवन भी आज निःशेष होने की अवस्था तक पहुंच चुका है। आर्यहिन्दू-जाति रहने से ही सनातन आध्यात्मिक आदर्श मूलक संस्कृति व सभ्यता जीवित रह सकेगी इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। तथा इस जाति के नष्ट होने से वह विश्व-मानवता का स्वर्णपथ-आर्य संस्कृति भी सदा के लिये नष्ट हो जायेगी।

इस नवीन युग की भयंकर परिस्थिति को अपनी तपः पूत आर्ष दृष्टि से देख कर ही युगदेवता आचार्य स्वामी प्रणवानन्द जी ने अपने जीवन तथा साधनामें उसके समस्त समाधान का संकेत दिया है। वर्तमान व भविष्य युग को व्यथा-वेदना, अभाव संकट की दूर करने के लिये जब उनकी करुणामयी तपः शक्ति उद्वेलित हो उठी तब साधना की तुरीय भूमिका से चरमसिद्धि के द्वार को उद्घाटित करते हुये उन्होंने भविष्य युग की आशा-वाणी का संधान इस प्रकार दिया :--"यह युग महाजागरण का युग है, यह युग महासमन्वय का युग है, यह युग महामिलन का युग हैं, यह युग महामुक्ति का युग है।' अलौकिक तपः शक्तिशाली आचार्य का अलोक

सामान्य अनिवचनीय, अतुलनीय जीवन इस संक्षिप्त युगवाणी का सजीव-विशद भाष्य है।

आचार्य देव ने स्पष्ट निर्देश दिया था कि मनुष्य जाति को इस महाध्वंस से रक्षा करना हो तो व्यष्टि तथा समष्टि जीवन में त्याग-संयम सत्य-ब्रह्मचर्य के आदर्श को पुनः प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। भारतीय हिन्दू जाति ही विश्व मानव को इस आदर्श तथा साधना का पथ-निर्देश दे सकती है। अतः इस महान् दायित्व का विचार करते हुये आर्य हिन्दूगण को संघबद्ध शक्तिमान्-जीवन संग्राम में उत्साही निर्भय तथा स्वधर्म परायण बनना पड़ेगा। इस लिये उन्होंने स्पष्ट रूपसे निर्देश दिया—

"हिन्दू के कल्याण में भारत का कल्याण तथा मनुष्यजाति का कल्याण है हिन्दू की मुक्ति में भारत की मुक्ति तथा मनुष्य जाति की मुक्ति है।" संघनेता आर्चायदेव का जीवन एक महा समुद्र के समान है। उनकी अगाध गम्भीरता तथा अपार्थिव महानता का अनुसन्धान जिसने जहां तक किया वहीं तक उसे उपलब्धि हुई तथापि उन्होंने जिस आदर्श वाणी तथा कार्यक्रम का प्रचार किया उसे अपने तथा निकट सम्पर्क में रहने वाले लोगों के जीवन में प्रतिष्ठित किया था।

अपने जीवन तथा आदर्श के ढाँचे में उन्होंने त्यागी, सन्यासी का एक नवीन दल गठन किया तथा उन्हीं की आधार शिला पर "भारत सेवाश्रम संघ की प्रतिष्ठा की। आचार्य देव अपनी महान तपःशक्ति व आध्यात्मिक आदर्श एवं आर्य हिन्दू-समाज को अखन्ड शक्तिशाली तथा आत्मरक्षा में समर्थ बनाने के लिये समस्त साधना, प्रेरणा तथा ' तपःशक्ति को इसी संघ यन्त्र में संचित कर गये है।

उनके शैशव तथा किशोर अवस्था में बुद्धदेव का कठोर त्याग-वैराग्य, आचार्य शंकर का ब्रह्मचर्य व ब्रह्मज्ञान प्रोज्वल रूप में प्रगट हुआ था।

जातिगठन के क्षेत्र में उनमें श्रीकृष्ण की सी वीर्यवत्ता की प्रेरणा, सुतीक्ष्ण दूरदृष्टि तथा सर्व प्रकार सामंजस्य एवं समाधान मूलक नीतिनिपुणता को देख कर सहकर्मियों को आश्चर्यान्वित होना पड़ता था। आचार्य देव के जीवन में श्री रामकृष्ण तथा विवेकानन्द की समन्वय मूर्त्ति देखकर स्व० सर मन्मथनाथ मुखर्जी ने उनकी शोक सभा में कहा था—

"आज श्री रामकृष्ण व विवेकानन्द नहीं है, परन्तु आचार्य स्वामी प्रणवानन्द जी थे। उनके तिरोधान से हिन्दू धर्म व जाति का स्वर्ण शिखर टूट पड़ा"

मुझ जैसे व्यक्ति के लिये संघ नेता आचार्य देव की जीवनी लिखना—

"प्रांशु लभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः।" मानो नमक का पुतला समुद्रपार करने जा रहा है। उनके विराट अलौकिक व्यक्तित्व की ओर ध्यान देने से लेखनी रुक जाती है, मनन शक्ति स्तब्ध हो जाती है। परन्तु यह तथ्य सर्वसिद्ध है कि वे हम लोगों के लिये ही आये थे। मित्र-सखा-सुहृद व आचार्य के रूप में सर्व प्रकार की मलिनता-प्रक्षालन करके अपने अभय आश्रय में हमसबको उठा लेने के लिये ही वे आये थे। उनके अपरिसीम स्नेह तथा प्रेम से मोहान्ध होकर प्रतिकूल आचरण करने से किंचित प्रेमवश-करुणापूर्ण क्षोभ से कहतेः—'स्नेहान्ध माता-पिता जैसे अपनी सन्तान पर अत्यधिक प्रेम प्रदर्शित कर उसका सर्वनाश करते हैं वैसे ही मैं भी असीम स्नेह से क्षमा करते हुये तुम लोगों की क्षति कर रहा हूं! रे! आज सिंह क्यों स्वेच्छा से भेड़ों में मिलकर भेड़ बन रहा है तुम लोग कैसे समझोगे?"

पाठक! जो 'अवाङ्-मनसोगोचर' भूमा पुरुष जीवोद्धार के लिये हमारे जैसे मानव बन कर प्रेमवश सम्बन्ध में आवद्ध होकर हम लोगों के बीच में आये हैं। हमारे छोटे से हृदय-दर्पण में उनका जो कुछ प्रतिविम्ब पड़ा वही

तो हमारा सम्बल है ! उसी अमूल्य निधि का स्मरण-मनन-विवेचन करने के अतिरिक्त उनको समझने का अन्य उपाय ही क्या हो सकता है ?

अतः असमर्थ होकर भी हम उनके अलौकिक जीवन व चरित्र का गुण कीर्तन व मनन करेंगे। सम्यक ज्ञान व शक्ति न होने पर जो भी कुछ हो यथा सम्भव वही करना पड़ेगा। उनकी अहैतुकी कृपा व आशीर्वाद ही इस पथ का एकमात्र पाथेय है।

उनके जीवित काल में उनकी जीवनी लिखने का प्रसंग उठाने से वे कचित रुष्ट होकर कहते थे "जो सामने उपस्थित है उसकी जीवनी की क्या आवश्यकता है ? मैं पर्वत-जंगल में नही रहता हूं ? देश में कौन मुझे नहीं पहचानता है ?" वास्तव में वे जन्म से ही अपने गाँव, समाज व शहरों में ही रहते थे। आध्यात्मिक साधन, भजन, तपस्या के लिये कभी पहाड़-पर्वत या निर्जन जंगल में नहीं गये। उनका तपोमयसाधन जीवन सबके सामने ही था लाखोंलोगों के साथ हजारों कर्मी के साथ विश्वकल्याण के लिये वे काम करते थे। विराम विश्राम का नाम तक नहीं था। उसमें किसी प्रकार का रहस्य या चमत्कार का भ्रामक आवरण लेशमात्र भी नहीं है। वे अपने सन्यासी शिष्यगण को भी उपदेश देते थे :- "जिसे जहाँ पर रखा जाय उसे उसी स्थान को हिमालय की गुफा समझना चाहिये। संकल्पारूढ़ मन ही निर्जन गुफा है।" वे अभय कण्ठ से कहते थे-"संकल्प में जो दृढ़ है प्रतिज्ञा में जो अविचल है सर्व प्रकार की सिद्धि उसके करतलगत है। संकल्प से विचलित होने के पहले प्राणवायु त्याग करने के लिये तत्पर रहना चाहिये।" उनका अलौकिक जीवन ही अखण्ड ब्रह्मचर्य, कठोर तपस्या, अप्रतिहत साधन

अविराम कर्मप्रवाह, असाधारण संघ-गठन प्रणाली- सब का मूल स्रोत था। बुद्धदेव के जीवन में वैराग्य के आरम्भ में विवाह व थोड़े समय के लिये संसार में प्रवेश करना, तीव्र वैराग्य से निर्वाण की आकांक्षा से संसार त्याग, कठोर तपश्चर्या से अनेक समय के बाद 'मार' पर विजय प्राप्त कर बोधि प्राप्त करना, उसके पश्चात पाँच शिष्यों को लेकर धर्मचक्र प्रवर्त्तन और संघ गठन एवं धर्मप्रचार यह सब घटनायें मनुष्य जीवन के आत्मोपलब्धि व आत्मविकास के स्वाभाविक क्रमिक विकास के विभिन्न स्तरों की सूचना करती है।

आचार्य शंकर का जीवन अलौकिक होने पर भी कुछ अस्वाभाविक नहीं मालूम पड़ता। तीन वर्ष की आयु में गुरुगृह जाना, ब्रह्मचर्यानुष्ठान, शास्त्राभ्यास एवं पाँच वर्ष की अवस्था में समार्वत्तन, आठ वर्ष की आयु में माता की आज्ञा से सन्यास ग्रहण कर गुरु महायोगी गोविन्द पाद के पास योग-साधना उसके बाद वैदिक धर्म प्रचार का उद्योग और भाष्य की रचना,सन्यासी संघ संगठन तथा मठस्थापन, इसमें भी क्रमिक विकास की धारा मिलती है।

महाप्रभु चैतन्यदेव के जीवन का क्रमिक विकास भी मनुष्य बुद्धि के लिये अगम्य नहीं है। अध्ययन, विवाह, संसार प्रवेश उसके बाद भगवत् भाव व भक्ति का उन्मेष, नाम संकीर्त्तन में तन्मय हो जाना! पहली स्त्री का देहान्त होने पर दूसरी बार विवाह करना। उसके बाद वैराग्य व सन्यास शिष्य संग्रह कर लुप्त तीर्थ स्थानों का उद्धार तथा धर्म प्रचार के लिये उन्हें नियोग करना तत्पश्चात अधिकांश समय तक दिव्य भावावेश में विभोर रहना, कभी भगवत्भाव में ऐश्वर्य दिखलाना तथा शक्ति संचार करना, अलौकिक होते हुये भी इसमें कुछ असामंजस्य नहीं है।

परन्तु संघनेता आचार्य के जीवन में अनेक द्वन्दों का समन्वय देखकर

विचार-बुद्धि स्तंभित होती है और मनुष्य विस्मय में पड़ जाता है। इन अलौकिक आचार्य का जन्म से सिद्धिलाभ व संघगठन के समय तक पितृगृह में निवास, गाँव के साथिओ के साथ विद्यालय जाना, व्यायाम इत्यादि करना, घर का काम काज, ग्राम कल्याण के जनहितकर कार्य का नेतृत्व करना, बालक व युवकों को हितसाधन व जीवनगठन के उपदेश देना, समाज के वाद-विवाद तकरार को दूर करना, कभी दुष्टों का दमन,करना परन्तु इतने पर भी उनकी कठोर तपश्चर्या और अटूट ब्रह्मचर्य की साधना! मितभाषी,मिताहारी,जितेन्द्रिय, जित निद्र-आत्म-समाहित, शान्त, सौम्य, सर्वप्रियकारी-प्रियभाषी तथा साथ साथ कठोर तपः शक्तिशाली इन महान आचार्य के अदभुत तथा अविचल सकल्प को देखकर अतिशय प्रवीण बुद्धि वाले को भी विचार करना पड़ता है। सुदृढ़ परन्तु तीव्र गति से आकांक्षित महामुक्ति लाभ के लिये अग्रसर होते रहना इन सभी महाभावों का—लौकिक तथा अलौकिक का अपूर्व समन्वय बुद्ध-शंकर चैतन्य जैसे आचार्यो के जीवन में भी नहीं पाया जाता। गूढ़ विचार करने से एकमात्र श्रीकृष्ण के जीवन के साथ ही सादृश्य मिलता है।

सिद्धि प्राप्त करने के बाद भगवत् शक्ति की प्रेरणा से जब वे कर्मक्षेत्र में उतरे उस समय भी उनका आचार-व्यवहार एक अपूर्व आत्मस्थभाव से परिपूर्ण था। दिन रात संकल्पित कार्यक्रम पर विचार विमर्श और उसका अनुष्ठान करते थे, उसमें विराम-विश्राम का नाम तक नहीं था। जिस समय सैकड़ों सन्यासियों को धर्म प्रचार कार्य में नियोग कर आदेश-उप देश कर रहे हैं उसी समय मजदूरों को काम करा रहे हैं। पल भर में पाकशाला में जाकर प्रबन्ध कर रहे हैं। एकाएक राजमिस्त्री के पास

जाकर आदेश दे रहे हैं। तथा देखते ही देखते धर्मार्थी जिज्ञासुओं को आसन पर बैठ कर आदेश उपदेश दे रहे है। अल्प समय के उपरान्त भगवत भाव से आरती के आसन पर विराजमान हैं। शत सहस्रों नर-नारियों को आर्शीवाद दे रहे हैं। उसी के बाद सैकड़ों कर्मचारियों, सन्यासियों तथा नर-नारियों को मातृवत् वात्सल्य के साथ खिला रहे हैं। प्रतिदिन उच्चतम आध्यात्मिक भाव के साथ साथ तुच्छाति तुच्छ साधारण कामकाज तक एक ही प्रकार करते थे। इस प्रकार की विलक्षणता का कोई रहस्य समझ में नहीं आता।

इसीलिये इन आचार्य के प्रति असंख्य लोगों में असंख्य प्रकार की धारणायें हैं। विभिन्न भूमिकाओं में इस प्रकार के महाभावों का सामंजस्य साधारण मनुष्य के लिये समझना कठिन हो जाता है। अतः उन्हें महान विरोधाभास सा लगता है। कोई कहते हैं—वे ब्रम्हचर्य व आध्यात्मिकभाव की मूर्ति है, किसी का कहना है वे भगवत शक्ति सम्पन्न अवतार हैं। कोई कहता है कि वे असाधारण संगठन-प्रतिभाशाली नेता हैं (organiser) इसमें किसी की त्रुटि नहीं है। उनके सर्वतोमुखी व्यक्तित्व को जिसने जिस दृष्टि बिन्दु से देखा उसने उसे उसी रूप में उपलब्ध किया।

पहले ही कहा जा चुका है कि केवल भगवान श्रीकृष्ण के साथ इस सर्व सामन्जस्य पूर्ण विराट व्यक्तित्व का सादृश्य पाया जाता है। भगवान श्रीकृष्ण के जीवन में (१) अत्याचारी व दुष्टों का दमन (२) धर्म के प्रचार और प्रतिष्ठा के लिये उद्योग और व्यवस्था (३) धार्मिक और भक्तों की रक्षा-जाति संगठक आचार्य के जीवन में उनके प्रवर्तित कार्यक्रम के भी तीन विभाग थे।

(१) हिन्दू मिलन मन्दिर स्थापन व रक्षक दल गठन।
(२) तीर्थ संस्कार (३) सन्यासी संघ संगठन ॥

आचार्यदेव का उपदेश था-"दुर्बलता, भीरुता कायरता ही पाप है' श्रीकृष्ण जी ने कहा—क्लैब्यं मास्म गमः ॥' महान कर्म-योगी श्रीकृष्ण का 'नियतकुरु' कर्मत्वं का उपदेश आचार्यदेव के निम्नलिखित निर्देश में निहित है :-"हमारी सन्तान का परिश्रम ही विश्राम और विश्राम ही परिश्रम है, शरीर जिस दिन मृत्यु की गोद में आश्रय लेगा उसी दिन विश्राम है। उसके पहले नहीं। दिवस यदि और लम्बा होता तो और अधिक काम करने की सुविधा मिलती घन्टा व मिनिट का हिसाब रख कर काम करना चाहिये। वही प्रकृत जीवन है।"

युद्ध से पराङ्मुख अर्जुन को भगवान श्रीकृष्ण ने कहा था :—
"मयैवेते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्य साचिनः।"

मैंने सबको मार रखा है तुम केवल निमित्त-मात्र बन जाओ। संघ नेता आचार्य भी संशयाविष्ट कर्मविमुख हम लोगों को कहा करते थे "मुझे तुम लोगों के किसी की भी आवश्यकता नहीं है,मेरे पर जो कुछ भी आदेश निर्देश हैं उसे मैं काठ के पुतले में जीवन संचारपूर्वक-पूर्ण कर लूंगा। मैं जो मार्ग दिखला रहा हूं उसी मार्ग पर चलो। देखोगे देश व जाति एक दिन तुम लोगों का अनुसरण करेगी।"

मध्ययुग के नैष्कर्म्य बाद तथा अदृष्टवाद ने जाति पर इतना प्रभाव विस्तार किया था कि उन्नीसवीं व बीसवीं शताब्दी के अर्द्धांश तक भी वह मोह विदूरित न हो सका। अभी तक भी धर्म और कर्म में, व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधनाअनुष्ठान व सामाजिक दायित्व कर्तव्य में, कोई

सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ हैं। धर्म व वास्तव जीवन यह दोनों पृथक वस्तु के रूप में हमारे सामने आते हैं। कर्ममय जीवन तथा उच्च आध्यात्मिक ज्ञान के बीच आज भी हमारे जीवन में एक विषम व्यवधान है। धर्म की ग्लानि का मूल यहीं पर है। नैष्कर्म्य वाद को ही सच्ची आध्यात्मिकता समझाने वाले कुछ तथाकथित नेतागण धर्म के बाह्य आडम्बरों को ही मूल समझकर जाति को उन्हें पकड़े रहने की शिक्षा देते आये हैं। फलतः तिलक, त्रिपुण्ड, झोला, रामावली इत्यादि बाह्य वेश ही आज धर्म की अभिव्यक्ति का रूप है। परन्तु धर्म के मूल आधार-त्याग-संयम-सत्य-ब्रम्हचर्य रिपुदमन व इन्द्रियसंयम को जाति भूलती जा रही है। इसी के कारण आज देखा जाता है कि धातु या प्रस्तर मूर्ति के सम्मुख अच्छे से अच्छा भोग चढ़ाया जाता है परन्तु जीवित मनुष्यसमाज के दीन-दरिद्र अशिक्षित अछूत भूखे नरनारी को अन्न-वस्त्र देने के लिये किसी का मनोयोग नहीं है। इस प्रकार जाति आज भोग परायण तथा आत्म-केन्द्रिक बन गई है।

जाति आज क्रमशः धर्म की ग्लानि के अथाह गड्ढे में गिरी हुई है। स्वेच्छाचारिता ही आजका सबसे बड़ा पुरुस्पार्थ बन गया है। इस परम ध्येय को पूरा करने के लिये जो कुछ किया जाय वही सत्य है तथा जो मनुष्यत्व के पथ पर ले जाने वाले हों वे सभी दुर्बलतायें हैं—ऐसी भावना व नीति आज प्रचलित हो रही है। इस मनोवृति का परिणाम यह हुआ कि धर्म व भगवान आज मानव हृदय से दूर हटते जा रहे हैं। श्रद्धा भक्ति-विनय स्नेह, प्रेम प्रीति सहानुभूति इत्यादि सदगुणो का व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में सर्वथा अभाव दिखलाई पड़ता है। जीवन क्रमशः मनुष्यत्व की कक्षा से अधोगति की ओर अग्रसर होता जा रहा है।

संघनेता आर्चायदेव के जीवन चरित्र का सिंहावलोकन करते समय हमें विदित होगा कि संघनेता आर्चायदेव ने धर्मग्लानि के इन सभी पक्षों पर ध्यान रख कर ही धर्मप्रचार व धर्मसंस्थापन की अद्वितीय कार्यावली प्रवर्त्तित की थी !

जाति-गठन के क्षेत्र में आर्चाय देव ने एकदम नवीन कार्यक्रय आरम्भ किया। अर्धशताब्दी से भौगोलिक व राजनैतिक जातीयता प्रतिष्ठा के लिये जो आन्दोलन चल रहा है उसकी प्रयोजनीयता को उन्होंने कभी भी अस्वीकार नहीं किया। परन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव पर सच्ची जातीयता की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। एकमात्र आर्य हिन्दू-संस्कृति के आदर्श, लक्ष्य, उद्देश्य तथा साधना के प्रति विशेष ध्यान न देकर केवल मात्र राष्ट्रीय जातीयता का ध्येय रखने से मानव समाज का पूर्ण कल्याण नहीं हो सकता। इस सिद्धांत का आचार्यदेव ने अपने दिव्य चक्षुओं द्वारा साक्षात्कार किया था। चरम सत्य को समझकर ही उन्होंने धर्म की भित्ति पर जातिगठन का अभिनव आन्दोलन प्रारम्भ किया।

आर्य आदर्श-साधना संस्कृति के मार्ग पर चलकर धर्मसंस्थापन व समाज संगठन ही भारतीय जातीयता का प्रकृत स्वरूप है। स्पष्ट शब्दों में इसका निर्देश कर उन्होंने जातिगठन आन्दोलन आरम्भ किया।

समाज संस्कारक आचार्यदेव की अभ्रान्त वाणी है-"समाज ही जीवित सहस्रशीर्ष विराट पुरुष है। उसे लकड़ी या मिट्टी की तरह मनमानी तोड़ मरोड़ कर स्वेच्छानुकूल नहीं बना सकते। इस प्रकार के अविवेक पूर्ण प्रयास से समाज पर केवल आघात ही पहुंचता है और विप्लव की सृष्टि होती है।

सहानुभूति पूर्ण अन्तःकरण से आदर्श जीवन लेकर जो समाज की सेवा करने को तत्पर है वही समाज के नेता व नियन्ता बन सकते है ।"

राजाराममोहन राय व केशवचन्द्र सेन ने अपनी अपनी कल्पना के ढाँचे में समाज को नवीन रूप देना चाहा उससे छोटा सा ब्राह्मसमाज बन गया । स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज की रचना की । श्री चैतन्य के युग में वैष्णव-नेतागण ने स्मार्त्त समाज से अलग वैष्णव समाज बनाया । इन सभी प्रयत्नों से मूल समाज की शक्तिवृद्धि या कल्याण नहीं हुआ अपितु मूल समाज से प्रतिभाशाली सन्तान पृथक होने पर मूल हिन्दू-समाज अधिक दुर्बल, कुसंस्काराच्छन्न तथा क्षतिग्रस्त हो गया है । इस दृष्टि से विचार किया जाये तो श्री रामकृष्ण-विवेकानन्द के प्रवर्त्तित आन्दोलन ने अलग समाज को स्थापना नहीं की तथा मूल समाज को शक्तिहीन नहीं बनाया ।"

यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि ब्राह्मसमाज, तथा आर्य समाज ने उस समय के हिन्दू-समाज को इस्लाम तथा इसाई बनने से बचाया था । तथापि मूल समाज इन सभी घात-प्रतिघातों से क्रमशः सारहीन बनता गया ।

संघनेता आचार्यदेव ने समाज के मूल से ही संशोधन आरम्भ किया । उन्होंने लुप्त नेतृत्व शक्ति को पहले जाग्रत करने का प्रयत्न किया । तत्पश्चात् आदर्श व विधि व्यवस्था का प्रवर्त्तन करना प्रारम्भ किया ।

संघनेता आचार्यदेव ने नेतृत्व शक्ति की पुनः प्रतिष्ठा के लिये 'मिलन-मन्दिर' कर्म-पद्धति का प्रवर्त्तन किया जो अब भी चल रहा है। सब श्रेणी के प्रवीण व्यक्ति वर्ग को लेकर जो समिति गठित होगी वह गाँव के समस्त व्यवस्था की देखरेख करेगी। नवीन अभिभावक स्वरूप इन समितियों द्वारा समाज संस्कार का विधि-विधान किया जा रहा है।

समाज एक जीवित शरीर है। मनुष्य की भाँति इसमें भी ग्रहण-पाचन वर्जन तथा आत्मरक्षण की शक्ति है। परन्तु अनेक कारणों से हिन्दू समाज की आत्मरक्षण शक्ति नष्ट प्रायः हो गई है। आत्मरक्षण का संकल्प तथा उपाय खोकर हिन्दू समाज असहाय बन गया है। संघनेता ने 'रक्षकदल गठन' के आन्दोलन से समाज में इस आत्मरक्षा की प्रेरणा व संकल्प का संचार किया।

आज अहिन्दू सम्प्रदायों द्वारा हिन्दू समाज अत्याचारित व लांछित हो रहा है। इसके प्रतिकार के लिये अनेक नेता, अनेक प्रकार के उपायों का सुझाव दे चुके हैं, और दे रहे हैं। पूना पैक्ट, लखनऊ पैक्ट इत्यादि अनेक विधानों व योजनाओं द्वारा उन्होंने लघुसंख्यक वर्ग की रक्षा करने के हेतु कीर्ति अर्जन किया। इसी अहिन्दु-तोषण नीति के कारण हिन्दूगण अशक्त होते जा रहे हैं। तथापि साम्प्रदायिकता का भूत जाग्रत ही है। अपनी योजनाओं को विफल देखकर नेतागण केवल अनुताप-परिताप से ही जनता को आश्वासन देते आये हैं।

आचार्यदेव का अभ्रान्त सिद्धान्त था—"मिलन मित्रता व सहयोगिता सदा समान-समान में हो सकती है। सबल और दुर्बल में कभी भी मैत्री सम्भव नहीं हो सकती। मुसलमान संघबद्ध और संगठित हैं। ईसाई सुरक्षित हैं।

हिन्दू में संगठन नहीं है। हिन्दू दुर्बल और आत्मरक्षा में असमर्थ है। जिस दिन हिन्दू-अन्य सम्प्रदायों की भाँति संघबद्ध व शक्तिमान होंगे उसी दिन उसका अन्य सम्प्रदायों के साथ मिलन भी सहज हो जायेगा।"

अतः अपने धार्मिक, सामाजिक व जातीय जीवन की त्रुटि को दूर कर शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न न करते हुये केवल सबल प्रतिपक्ष पर दोषारोपण करते रहना क्लीवता व कायरता है। शक्तिशाली हिन्दू संगठन ही इन समस्याओं का एक मात्र समाधान है।

इस लिये सारे भारतवर्ष में 'मिलन मन्दिर' आन्दोलन का प्रसार करते हुये समस्त जाति को ऐक्य के सूत्र में बांधकर आचार्यदेव ने विराट संगठन का श्री गणेश किया। जिस से एक व्यक्ति पर आघात होने से उसके प्रतिकार के लिये अनेक तत्पर रहेंगे। व्यक्ति में शक्ति व विश्वास का संचार होगा। उन्होंने हिन्दू जाति को आश्वासन देते हुये कहा था—"हिन्दू में विद्या-बुद्धि-अर्थ सामर्थ्य सब कुछ है। केवल संघ बद्धता नहीं है। केवल संघशक्ति के अभाव से हिन्दू की दुर्दशा है। संघशक्ति गठित होने से हिन्दू पुनः अपने गौरव व पराक्रम से जाग्रत हो सकेगा।"

हिन्दू के व्यक्तिगत व जातीय अधोगति का समाधान एक मात्र हिन्दू-संगठन से ही हो सकेगा। Building up of systematic and powerful Hindu organisation)

गत सौ वर्षों से अनेक मनीषिओं ने भारत में जातिगठन की वाणी व निर्देश देने का प्रयास किया। इन सब प्रयत्नों में आचरण का अभाव था। मौखिक सिद्धान्त अधिक थे। परन्तु आचार्यदेव युगनिर्माता के रूप में आये थे अतः भावी युग के आदर्श, साधना व कर्त्तव्यों को उन्होंने स्वयं ही आचरण

करके दूसरों को सिखाया है। उनका समग्र जीवन एक विराट यज्ञ था—उसकी पूर्णाहुति करते हुये वे सबको मार्ग बता गये हैं।

भगवान रामचन्द्र ने जिस प्रकार अपार स्नेह-वश क्षुद्रतम वस्तुओं को भी अपने लोक कल्याण कारी कर्म में लगाया था उसी प्रकार आचार्यदेव ने भी छोटे छोटे समूहों को एकत्रित कर, थोड़ी थोड़ी भिक्षा मांग कर लाखों रुपया इकट्ठा कर विराट शक्ति प्रवाह की रचना की है। उनके अपार-प्रेम-समुद्र में सर्वश्रेणी और सम्प्रदाय मिल कर एक हो गये। उनके चरणों में ब्राह्मण, चाण्डाल, धनी, दरिद्र सभी एकत्र होकर उनकी इच्छा शक्ति से प्रेरित होकर उनके अभीष्ट मार्ग पर चलते थे। मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी उनके मिलन क्षेत्र में एक हो जाते थे। श्री रामचन्द्र ने जैसे गिलहरी की सेवा की भी उपेक्षा नहीं की थी उसी प्रकार संघनेता ने भी सबको यथा योग्य मर्यादा देकर सबकी सेवा को स्वीकार किया है।

अनन्त क्षमा, अपारसहनशीलता, अगाध प्रेम, सर्व व्यापी दृष्टि लेकर आचार्यदेव परस्पर विरोधी भाव व शक्तियों को एकत्र कर रखते थे। शत्रु व मित्र उनके पास बराबर अधिकार रखता था, उनका आकर्षण इतना प्रबल था कि सभी अपने को आचार्यदेव का सबसे अधिक प्रिय व्यक्ति मानता था। सभी उनके एक संकेत पर प्राण-बलिदान करने की भावना व शक्ति रखते थे। आचार्यदेव की प्रेम-मयी वाणी निःशक्त, अवसन्न और श्रान्त कर्मी में उत्साह और उमंग भर देती थी।

आज उनका भौतिक शरीर नहीं है—यह बात सच है, परन्तु उन्होंने आश्वासन देते हुये कहा—"मैंने कुछ अवशेष नहीं रखा है—मैंने अपने को सबों में विलीन कर दिया है।" यह तथ्य सत्य है। वे अपने आदर्श, व्यक्तित्व, व

शक्ति को अपनी सन्तानों में वितरण कर गये हैं। उनका अमोघ संकल्प, अलौकिक तपः शक्ति व अक्षय आर्शीवाद संघ में संचित एवं सुरक्षित रहकर भ्रान्त-जाति को सन्मार्ग पर परिचालित कर रहा है और करेगा।

संघनेता युगाचार्य के अलौकिक जीवन व चरित्रलीला का जो स्मरण-मनन व आचरण करेंगे वे उनकी शक्ति व आर्शीवाद के अवश्य ही कृपापात्र बन सकेंगे। उनका भौतिक शरीर न रहने से भी आज उनका अमोघ आर्शीवाद हमारे शिर पर वर्षित होकर हमें उनके अभीष्ट कर्म को सम्पादित करने की शक्ति व प्रेरणा प्रदान करे यही प्रार्थना है।

ॐ तत् सत् ॐ

श्री श्री युगाचार्य जीवन-चरित

सूची-पत्र

---

१ से ५३ पृः

जन्मस्थान व पितृ-मातृ परिचय–आविभाव-बालकविनोद-तपस्वी ब्रह्मचारी-विनोद-समाधि व सिद्धि–आचार्य भाव का उन्मेष व क्रम विकास–आचार्यभाव का विकास व संघगठन कार्य का श्री गणेश–।

धर्म चक्र व कर्म चक्र की प्रेरणा तथा जनसेवा के आदर्श का प्रसार

५४ से ६४ पृः

जनसेवा का कार्यारम्भ–कलकत्ते मे नेताओं से परिचय व प्रचार–प्रतिनियत कर्मरत होते हुये भी शान्त और समाहित–खुलना दुर्भिक्ष में सेवाकार्य–अन्तरंग सन्तानों से सम्बन्ध और आचार्यभाव का संकेत–आशाशुनी सेवाश्रम–जगत्हिताय सर्वत्यागी नवीन दल–बाजितपुर सेवाश्रम में ब्रह्मचारी जी का सिद्धपीठ–माघी पूर्णिमा महोत्सव व ब्रह्मचर्य संस्कार।

संघ-निर्माण व सन्यासी सगठन

६५ से ८१ पृः

ब्रह्मचारी जी की वाणी–ब्रह्मचारी जी की शिक्षा पद्धति–त्यागी कर्मी के लिये ब्रह्मचारी जी की व्याकुलता–सब प्रकार के कर्मी का स्थान–संघ का नामकरण व ब्रह्मचारी जी का 'आचार्य' पद ग्रहण–ब्रह्मचारी महाराज का सन्यास ग्रहण–संघ के त्यागी सन्तान गण का संन्यास।

जन-सेवा को धर्म सेवा व समाज-सेवा का रूपदान

८२ से ८६ पृः

सेवा का व्यापकरूप–संघ का कर्म विस्तार–गया सेवाश्रम–चारण दल

या प्रचारक मण्डली–अर्थ संग्रह का उपाय व चारण दल का उद्देश्य–उड़ीसा में कर्मविस्तार व पुरी सेवाश्रम–उत्तर प्रदेश में कर्मविस्तार व काशीतीर्थ सेवाश्रम।

आचार्यवरण व संघ को अध्यात्म-साधना का प्रारम्भ

६० से १०० पृः

योग्यपात्र व अनुकूल परिस्थिति का गठन–आचार्यदेव का कठोर दायित्व-संघ सन्तानों के हृदय पर आधिपत्य विस्तार–जगद्गुरु के रूप में आत्मप्रकाश–गुरु-शिष्य-सम्बन्ध की प्रतिष्ठा।

आचार्यदेव की मूल शिक्षा साधना

१०१ से ११२ पृः

ब्रह्मचर्यम्–व्याधि-उग्रतपस्या–संघवाणी।

नैतिक आदर्श का आन्दोलन व ब्रह्मचर्य साधन-प्रदान

११३ से ११८ पृः

गार्हस्थ्य-जीवन का आदर्श प्रचार व शक्ति-साधना प्रदान

११६ से १३० पृः

संघ-कर्मचक्र का श्रृंखला-विधान व संघ की स्थायी प्रतिष्ठा

१३१ से १४१ पृः

संघनेता आचार्यदेव का प्रचार अभियान

१४२ से १५० पृः

जातीय जीवन में गुरु-शक्ति का संचार व गुरु-पूजा की प्रतिष्ठा

१५१ से १६० पृः

आचार्य ही वेदमूर्ति हैं–गुरु-पूजा के प्रचार की व्यवस्था–गुरु-पूजा का अनुष्ठान आत्म समर्पण योग, जातीय जीवन में शक्ति साधना का प्रवर्त्तन–श्री रामचन्द्र का दुर्गोत्सव।

हिन्दू-जाति-गठन-आयोजन

१६१ से १६८ पृ:

हिन्दू समाज समन्वय आन्दोलन

१७० से १८६ पृ:

आचार्य का प्रचार अभियान—बिहार व उत्तर प्रदेश में प्रचार—हिन्दू सम्मेलन का प्रवर्त्तन संघसंतानों के हृदय में प्रेरणा-संचार।

हिन्दू मिलन-मन्दिर-कर्मपद्धति का प्रवर्त्तन

१८७ से १६५ पृ:

हिन्दू-समाज-समन्वय आन्दोलन का प्रभाव विस्तार

१६६ से २०६ पृ:

गया के पण्डों का दमन—अन्नपूर्णा मन्दिर के अत्याचार का दमन—महन्त व मठाधीशों के प्रति चेतावनी—हिन्दू-संगठन कार्य में नेतागण को आमन्त्रण।

आत्मरक्षा के संकल्प का संचार व रक्षकदल आन्दोलन

२०७ से २१० पृ:

पार्वत्य हिन्दू-सम्मेलन।

श्री श्री प्रणवमठ-प्रतिष्ठा व जगद्गुरु के रूप में अर्घ्यग्रहण

२११ से २२१ पृ:

मठ-प्रतिष्ठा उत्सव—विश्वकर्म्मा आचार्यदेव—आचार्य के शरीर में संकट-जनक व्याधि—आचार्यदेव के शरीरधारण का संकल्प शिथिल होना—शरीरधारण के संकल्प का पुर्नजागरण—जन-साधारण के सम्मुख महाप्रकाश—त्रिशूलोत्सव।

विश्वरूप में पर्यवसान का आभास

२२१ से २२६ पृः

विश्वरूप में पर्यवसान

२२७

ॐ

श्री श्री युगाचार्य जीवन चरित

जन्मस्थान तथा पितृ-मातृ-परिचय

पूर्व बंगाल के फरिदपुर जिला में मदारीपुर तालुका के अर्न्तगत बाज़ितपुर एक छोटा सा ग्राम है। जलवायु की दृष्टि से यह स्थान स्वास्थ्यप्रद है। प्रत्येक वर्ष वर्षा ऋतु में बाढ़ आती है अतः भूमि भी उर्वरा है इसी ग्राम में विष्णुचरण दास या विष्णु भुँइया का निवास स्थान था, जो आज भी है। विष्णुदास जी कायस्थ (क्षत्रिय) वर्ण के ऐश्वर्यवान प्रभावशाली गृहस्थ थे। इस परिवार का हर व्यक्ति तेजस्वी, शक्तिशाली व स्वास्थ्यवान है। विष्णु भुंइया जैसे स्वयं शक्तिमान व तेजस्वी थे, उनके पुत्र भी वैसे ही शक्तिशाली व तेजस्वी थे। ग्राम का कोई भी परिवार इस विषय में उनकी समता नहीं कर सकता था।

विष्णुदास का शरीर जैसा सबल था, मन उससे भी अधिक दृढ़ था तथा संकल्प बल तो वज्रवत् कठोर था। जीवन में वे अनेकबार विपत्तिओं के आवर्त्त में पड़े, कभी कभी तो प्राणोंकी बाजी खेल कर भी वे विजयी हुये। परन्तु अपने संकल्प से लेशमात्र भी विचलित न हुये और न किसी कार्य को असमाप्त ही रखा। उनके इस दुर्जय आत्मविश्वास को लोग अहंकार समझते थे, तथा

कर्त्तव्य सम्पादन में दृढ़ अध्यवसाय को दंभ और हठ मानते थे। इस भ्रान्ति के कारण ही उनके असाधारण व्यक्तित्व को लोग समझ नहीं पाते थे। उनके विशाल दृढ़शरीर व तेजस्वी मनोभाव के अन्तराल में जो सहानुभूति पूर्ण महान हृदय था, उसका परिचय साधारण व्यक्ति के लिये सहज नहीं था।

बाजितपुर ग्राम में राजकुमार मजुमदार नामक एक प्रतापशाली जमींदार थे। वे प्रजा पर अति अन्याय अत्याचार करते थे। विष्णु भुँइया इनके यहाँ एक कर्मचारी थे। कर्मचारी होने पर भी अत्याचारित प्रजा के एक मात्र आश्रयस्थल थे, पीड़ित प्रजा का पक्ष लेकर वे जमींदार का सामना करते थे। इसी कारण से इस मजुमदार और भुँइया परिवार में कोई अभियोग उठ खड़ा हुआ जो कि प्रायः बीस वर्ष तक चलता रहा। अन्त में स्वः विष्णु भुँइया ही विजयी हुये। प्रतिपक्षी के समस्त षड़यन्त्र निष्फल गये। इस अभियोग में दोनों ही पक्ष की यथेष्ट क्षति हुई थी, परन्तु मजुमदार परिवार अपेक्षाकृत अधिक निर्धन हो गये। भुँइया ही उत्तरोत्तर विजयी होते गये। इस अंचल के हिन्दू-मुसलमानों में एक ऐसा विश्वास बैठ गया कि भुँइया को कालीमाता का वरदान प्राप्त हुआ है। इस विजय से भुँइया का प्रभाव और उनकी प्रतिष्ठा अधिकतर विस्तृत हो गई। फरिदपुर जिले के विख्यात वकील तथा भूतपूर्व कांग्रेस सभापति स्वः अम्बिकाचरण मजुमदार महोदय इस अभियोग में भुँइया की ओर से कार्य कर रहे थे। शिक्षित न होते हुये भी अपनी प्रतिभा के अनुसार भुँइया स्वयं ही वकील को अपने मुकदमे के विषय में जो परामर्श देते, उन्हें वकील स्वीकार किया करते थे। विष्णुदास को यद्यपि पुस्तकीय ज्ञान अधिक नहीं था परन्तु नैसर्गिक बुद्धिमत्ता तथा अनुभव प्राप्त ज्ञान ने ही उन्हें असाधारण मानसिक बल व कौशल प्रदान किया था।

आश्चर्य का विषय तो यह है कि परस्पर विपक्षी होते हुये भी उभय परिवारों के सद्भाव व प्रेम-प्रीति के व्यवहारमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ा। इनका स्नेह सम्बन्ध व कौटुम्बिक व्यवहार पूर्ववत् ही चलता रहा। अधिक क्या कहें, यहाँ तक कि जब मुकदमे के लिये जाते तब भी मजुमदार महोदय भुँइया को अपने गृह पर निमन्त्रित करते थे। अर्द्धशताब्दी पूर्व की इस घटना को आज के हिन्दू केवल काल्पनिक घटना ही मान सकेंगे।

स्व: विष्णु भुँइया में जैसा सुदृढ़ और अविचल आत्मविश्वास था वैसे ही उनमें भगवत् विश्वास और भक्ति भी अविचल एवं गहरी थी। परन्तु उनके स्वभावसिद्ध गांम्भीर्य ने अन्त:करण के इन कोमल व सौम्य भावों को आच्छादित कर रक्खा था। परिवार के दायित्व तथा संसार के विभिन्न कर्मों में व्यस्त रहते हुये भी भुँइयाके अन्तर में भगवत्भक्ति और विश्वास की पावन मन्दाकिनी फल्गुधारा की भाँति सतत अदृश्य रूप में प्रवाहित रहती थी ! जिस समय मुकदमे और अनेक प्रकार के आपद्-विपद में वे व्यस्त रहते थे उस समय भी रात्रि की निस्तब्धता में कुलदेवता भगवान् नीलरुद्र महादेव की आराधना में वे रात्रि जागरण करते हुये तल्लीन रहते थे। सजल नेत्रों से व्याकुल अन्त: करण की वेदना को वे अपने इष्टदेव के श्री चरणों में निवेदन करते तथा दक्ष यज्ञध्वंसकारी त्रिपुरारी महादेव के चरणों में दुखों से निष्कृति पाने की तथा अन्याय अत्याचार के प्रतिकार की प्रार्थना करते। उनके कुलदेवता श्री नीलरुद्र महादेव जी आज भी जाग्रत माने जाते हैं। इष्टदेव ने भक्त की करुण प्रार्थना से विगलित व प्रसन्न होकर साक्षात्रूप से ही वरदान दिया। देवादिदेव महादेव का अक्षय आशीर्वाद मूर्त्तरूप धारण कर पुत्र रूप में अवतीर्ण हुआ।

आचार्यदेव से सुना है कि मृत्यु के दो तीन वर्ष पूर्व से ही भुँइया सांसारिक कर्मों से निवृत्त होकर भगवदाराधना एवं रामायण, महाभारत, भागवत् इत्यादि के अध्ययन व श्रवण में ही अपना अधिकतर समय व्यतीत करते थे। जीवन के इस अन्तिम काल में उन्हें सांसारिक विषयों को सुनने के प्रति भी कठोर विरक्ति थी। उनके परम मित्र स्वः कालीप्रसन्न चक्रवर्ती यदा कदा पूर्व संस्कारवश यदि ऐसा प्रसङ्ग आरम्भ करते तो वे उसी समय उन्हें शान्त कर देते। परलोक की आह्वानध्वनि मानो उन्हें स्पष्ट सुनाई दे रही थी, और वे उसका योग्य उत्तर देने की प्रस्तुति कर रहे थे।

उनकी धर्मपत्नी माता सुमतिदेवी को दर्शन करने का सौभाग्य हमें अनेक वर्षों तक प्राप्त हुआ था। उनकी भाँति स्नेहपरायण एवं आत्म पर भेद-रहित स्त्री-रत्न अत्यन्त दुर्लभ हैं।

आविर्भाव

स्वामी विवेकानन्द ने भविष्ययुग के महाभाव के विकास के प्रति लक्ष्य करके कहा था — "भारत वर्ष इस युग का केन्द्र है।" अर्थात् भारत वर्ष से जो महान् दैवी शक्ति की प्रेरणा और आध्यात्मिक महाभावधारा प्रवाहित होगी उसी से निकट भविष्य में महान् परिवर्तन साधित होगा। पूर्ववर्ती समस्त आदर्श, व महान् विभूतियों की भावधारा को आत्मसात् कर तथा उसे और भी विश्वव्यापी विराट आकार प्रदान करते हुये, एक बृहत् जातिसंगठन की महान् कर्मयोजनाका इंगित लेकर एक दिव्य पुरुष का पुण्य आविर्भाव इस देव भूमि भारतवर्ष की रत्नप्रसू वंगमाता के स्निग्ध, श्यामल अंक में हुआ। उनकी अलौकिक तपःशक्ति व अमोघ कर्मप्रेरणा ने समग्र देश, जाति व समाज के अंग–प्रत्यंग में एक नवीन भावस्पन्दन व जीवनप्रवाह संचारित किया और कर रही है।

पूर्वोक्त बाजितपुर ही उस महाभाव और महाशक्ति के लीलातरंगों का पुण्यक्षेत्र बना। ई० सन् १८८६ की २८ जनवरी, बुधवार माघमास की

पूर्णिमा तिथि, विश्व तथा विशेषकर भारतीय आर्य हिन्दू जाति के इतिहास में कितना युगान्तकारी महान् स्मरणीय दिवस है, भावी ऐतिहासिक तथा मनीषिगण इसका विचार करेंगे। यह महापुण्य तिथि, अलौकिक भगवत् शक्ति के मूर्त्तस्वरूप युगाचार्य श्रीमत् स्वामी प्रणवानन्द जी के महान् आविर्भाव का शुभ दिवस है।

चारों ओर से विपद-आपद के आवर्त्त में आबद्ध स्वः विष्णुचरण भुँइया जब एक दिन इष्टदेवता श्री नीलरुद्र महादेव के श्री चरणों में आकुल प्रार्थना कर रहे थे तब मध्यरात्रि की गहन नीरवता में आराध्य देवता से आश्वासन प्राप्त हुआ-"पुत्ररूप में आकर तुम्हारी प्रार्थना पूर्ण करूंगा।" उसी रात्रि को उनकी धर्मपत्नी को भी अलौकिक दर्शन हुआ। निषीथ की पावन निस्तब्धता में सुमति देवी ने अलौकिक दर्शन पाया-उज्ज्वल किरीटधारी, शुभ्र ज्योति-मण्डित महादेव शिशुरूप में उनके अंकको सुशोभित कर रहे हैं।

कंस के कारागार में वसुदेव-देवकी के व्यथा जर्जरित क्रोड़ में जिस दिन भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी प्रगट हुये थे उस दिन उनकी शृङ्खलायें सहसा शिथिल हो गई थीं, कारागार का लौहद्वार स्वतः उद्घाटित हो गया था। इस देवशिशु के पुण्य-आविर्भाव से स्वः विष्णुचरण के जीवन का एक नवीन अध्याय आरम्भ हुआ। विपद् जाल छिन्न-भिन्न हो गया और वे मेघ-मुक्त शरदाकाश की भाँति प्रकाशित हुये। परिवार में सुख-समृद्धि की वृद्धि होने लगी। ऐसे आकस्मिक अभ्युदय से इस देव शिशु के प्रति माता-पिता, स्वजन स्नेही सब का स्नेह व आकर्षण स्वाभाविक रूप से बढ़ता गया। पिता जी ने उनका नाम 'जयनाथ' रखा, कारण इनके जन्म के पश्चात् ही उन्हें सर्व

कार्य में विजय व सफलता प्राप्त होने लगी। बुधवार को जन्म हुआ था इस लिये कोई कोई 'बुध' भी कहते थे, परन्तु जिनके दर्शन मात्र से ही सबके हृदय में अपार्थिव आनन्द का संचार होता था ऐसे अलौकिक शिशु का नाम 'विनोद' ही रखा गया। इसी शुभ नाम से वे उत्तर काल में परिचित हुये।

बालक विनोद

आज भी पूर्व बंगाल के उस छोटे से ग्राम में ऐसे अनेक स्त्री-पुरुष जीवित हैं जिन्होंने इस देव शिशु के जन्म, शैशव जीवन, तथा उत्तर काल में उनकी जीवनलीला के अनेक प्रसंगों का पुण्य दर्शन किया है। स्वयं उनके दो ज्येष्ठ भ्राता तथा ज्येष्ठा भगिनी द्वय जीवित हैं। तत्कालीन अनेक व्यक्तियों के मुख से ही इस देवशिशु के विषय में विभिन्न प्रकार की चमत्कार पूर्ण घटनायें सुनने को मिलती हैं। भुँइया वंश के कुल पुरोहित श्रीयुत महेन्द्रनाथ चक्रवर्ती भागवतरत्न ने आचार्य देव के विषय में उनकी स्मृतिसभा में इस प्रकार कहा था-'उनका विनोद नाम सार्थक, चित्त विनोदक तथा नयन रंजक था। उनकी आकृति, हाव-भाव, आलाप व्यवहार वास्तव में मानव हृदय को स्वतः ही आकर्षण करने वाले थे। उनके निकट जाने से ही सब को आनन्द का अनुभव होता था। कुंचित केशराशि के मध्य में मृदु हास्ययुत भावगम्भीर सुन्दर मुखमण्डल अर्ध विकसित शतदल की भाँति आबालवृद्धवनिता के हृदय को अपूर्व भाव से आकर्षण करता था। विनोद वास्तव में सबके देहमन आत्मा का विनोदकारी था।'

शिशु विनोद में ऐसा आकर्षण था कि जो कोई उसे एकबार देखता उसीके अन्तःकरण में शिशु को अंक में लेकर आनन्द पाने की उत्कण्ठा जाग्रत होती। परन्तु शिशु स्वभाव से ही इतना विलक्षण था कि वह अपनी माता के अतिरिक्त अन्य किसी की गोद में जाने को अनिच्छुक प्रतीत होता था। इच्छा के विरुद्ध उसे कोई लेने से वह चंचल होकर नीरव प्रतिवाद करता था।

एकबार की घटना है। भुँइया के घर पर एक परिचारिका थी। युवावस्था में उसका चरित्र अच्छा नहीं था। वह स्त्री स्नेहवश प्रायः ही बालक को अंक में लेना चाहती थी परन्तु बालक कभी उसके पास नहीं जाता था। विनोद-जननी भी शिशु को उसके अपवित्र स्पर्श से सुरक्षित रखने के लिये सदा सावधान रहती थीं। एक दिन अवसर पाकर उसी स्त्री ने बालक को उठा लिया परन्तु आश्चर्य का विषय कि उसी समय बालक के समस्त शरीर पर छाले निकल पड़े और वह अस्वस्थ हो गया। माता ने पूर्ण तिरस्कार के साथ परिचारिका को पुनः विनोद को स्पर्श करने के विषय में निषेध कर दिया।

ऐसी अनेक घटनाओं से यही विदित होता है कि भुँइया पत्नी को इस देवशिशु के जन्म से पूर्व जो दिव्य दर्शन हुआ था-उसके प्रभाव से उनका अन्तःकरण सर्वदा बालक के अलौकिक देवत्व की ओर सतर्क व सावधान रहता था। स्वाभाविक वात्सल्य तथा मातृसुलभ ममता के वशीभूत उनके मातृ-हृदय में बालक के विषय में कोई उच्च ज्ञान की धारणा या उपलब्धि नहीं होने पर भी वे उसके दिव्य जन्म-वृत्तान्त तथा मंगलमय शिव के आशीर्वाद के विषय में सर्वदा सतर्क रहती थीं। एकबार शिशु के अस्वस्थ होने पर माता जी ने दैवी कृपा के विषय में स्मरण कर शीघ्र ही शिशु को ग्राम की जाग्रता-देवी श्री श्री-वन दुर्गा के श्री चरणों में समर्पण कर दिया। माता का कहना था-

"जिनकी सन्तान है उन्हीं को दे दिया- अब वे ही स्वस्थ कर देंगी।"

शिशु के प्रति सबका ऐसा ही अहैतुक आकर्षण था कि इसके विषय में चारों ओर लोगों में एक नवीन आलोचना चलने लगी। अवसर मिलते ही लोग एकत्र होकर उसके दर्शन के लिये जाते। यह आग्रह व आकर्षण केवल बाजितपुर में ही नहीं था प्रत्युत निकटस्थ ग्रामों में भी विनोद की प्रशंसा में सभी मुखरित थे।

क्रमशः बालक के जीवन में जिन दिव्य गुणों का विकास प्रकाश हुआ उन सब का मूल शैशव में ही विद्यमान था। शैशव से ही वे शान्त-स्थिर व चंचलता रहित थे। सभी विषयों में उनका एक अनासक्त भाव था यहाँ तक कि भोजनादि के विषय में भी। हरिनाम से अति प्रेम था तथा भजन कीर्तन सुनने से तो उनको अपार आनन्द होता था। एक दिन बालस्वभाव वश उन्होंने तुलसी के पौधे पर थूक दिया, उसी समय उसमें देवी का दर्शन करके बालक अपूर्व भावों से अभिभूत होकर बाह्यज्ञानशून्य हो गया। इस घटना के उपरान्त वे तुलसी को विशेष मर्यादा देते थे। लेखक को स्मरण है-ई० सन् १६२४ की साल में मदारीपुर सेवाश्रम के प्रांगण में आचार्य देव समासीन थे। लेखक उनके निकट ही खड़ा होकर वार्त्तालाप कर रहा था। उस समय उसके उत्तरीय का एक भाग तुलसी वृक्ष के ऊपर गिर पड़ा। देखते ही आचार्यदेव ने गम्भीर स्वर में कहा-"थोड़ा हटकर खड़े होओ, तुलसी जाग्रत देवी हैं, पाँच मिनट ध्यान करने से ही वह बोलती हैं। तुम्हारा वस्त्र उनपर पड़ने से उन्हें कष्ट हो रहा है।"

उक्त घटना से आचार्यदेव की प्रत्यक्ष अनुभूति का प्रभाव लेखक के अन्तःकरण में भी सदा के लिये मुद्रित हो गया, अन्य किसी को तुलसी के प्रति अमर्यादा करते देख कर लेखक को भी कष्ट होता है। भोजन के विषय में बालक स्वाभाविक रूप से ही अनासक्त था। बंगाली परिवार में जन्म होने पर भी माँस मछली में लेशमात्र भी रुचि नहीं थी।

शैशव से ही वे उदासीन व आत्मभाव में लीन रहते थे। किसी भी ओर उनका मनोयोग नहीं था। कोई भी विचक्षण व्यक्ति उन्हें देखकर यह समझ सकता था कि बालक शरीर धारण करते हुये भी पूर्ण विदेह स्वरूप में है। "देहस्थोऽपि न देहस्थः" संस्कार वश शरीर का धर्म चल रहा है, परन्तु अन्तर में फल्गुधारा की भाँति एक अपूर्व महाभाव का अनन्त श्रोत सतत प्रवाहित है। उनके प्राणमन मानो शरीर से अति ऊर्द्धव किसी अपार्थिव भावजगत् में प्रवेशकर, अद्वितीय महामणि के अनुसंधान में आनंदामृत का आस्वादन कर रहे हैं। बाल्यावस्था के इस भाव का उल्लेख करते हुये उत्तर-काल में आचार्य देव ने इस प्रकार कहा था—"जब नंगा फिरता था उस समय भी पाँच छः घन्टे तक एक ही आसन पर बैठ कर जप-ध्यान करता था।" यह सुनकर लेखक विस्मित हो गया तथा आध्यात्मिक राज्य में प्रवेश करने के लिये कितने तीव्र वैराग्य, व्याकुलता, उद्यम और अध्यवसाय की आवश्यकता होती है इसका इंगित भी उसी समय से अधिक स्पष्ट रूप से प्राप्त हुआ।

इन दैवी गुणों से सम्पन्न शिशु सभी शुभ संस्कारों के साथ क्रमशः विकसित होने लगा। अनासक्ति और उदासीनता का भाव उत्तरोत्तर बढ़ने

लगा। उनके आलाप व्यवहार एवं समग्र दिनचर्या में भी एक अपूर्व संयम की दृढ़ता थी। वे अपने आत्मस्वातन्त्र्य पर प्रतिष्ठित रहते तथा आत्मभाव में समाहित थे। बालक में गाम्भीर्य था परन्तु कठोरता लेशमात्र की भी नहीं थी। विनोद के व्यक्तित्व में गांम्भीर्य एवं माधुर्य का अपूर्व समन्वय था। केवल बाल्यावस्था में ही नहीं परन्तु उत्तर काल में भी आचार्य-गुरु-नेता तथा समाज संगठक के रूप मे जब वे सहस्रों कर्मचारी तथा लाखों नरनारियों के साथ सतत कर्मप्रवाह में व्यस्त रहते थे उस समय भी उनका महान व्यक्तित्व गाम्भीर्य एवं माधुर्य के अपूर्व समन्वय से चुम्बक की भाँति असंख्य हृदयों को आकर्षित करता था।

पाठशाला का अभ्यास समाप्त कर वे उच्चमाध्यमिक विद्यालय में गये, परन्तु अध्ययन में ध्यान नही है। प्रतिदिन एक निश्चित स्थान पर ही बैठते हैं पुस्तक खुली है, शिक्षक पढ़ा रहे हैं, परन्तु बालक विनोद का ध्यान इस संसार के बाहर कहीं अन्यत्र ही भ्रमण कर रहा है। कभी कभी ऐसा भी होता था कि विद्यालय की छुट्टी हो गई, शिक्षक व विद्यार्थीगण चले गये, तब भी विनोद अपने स्थान पर ही ध्यानमग्न हैं, जब प्रकृतिस्थ हुये तब उठकर मन्थर गति से गृहाभिमुख प्रस्थान किया।

विद्यार्थियों में उनके चरित्र का ऐसा विस्मयकारी प्रभाव था कि पार्श्ववर्ती ग्रामों से जो विद्यार्थी पाठशाला में आते, उनके गम्भीर भाव एवं दृढ़ व्यक्तित्व का प्रचार वे चारो ओर करते। यहाँ तक कि वे लोग ऐसा भी कहते कि विष्णु-भुँइया के गृह में किसी देवता का आविर्भाव हुआ है। इसके फल स्वरूप अनेक गाँवों से लोग उनके दर्शनार्थ आने लगे। कितने ही गावों से बालक व युवक गण छुट्टी के दिन रात्रि में भी उनका दर्शन करने आते थे।

उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट बलिष्ठ था, तथा आयु के अनुपात मे शरीर की वृद्धि अधिक थी। उनके शरीर की विशालता, स्वभाव की मृदुता, चरित्र की पवित्रता, आचार-व्यवहार की मधुरता, वार्तालाप की शालीनता, बुद्धि की निर्मलता, मानसिक स्थिरता व अविचल गम्भीरता ने स्वतः ही उन्हें नेतृत्व पद का योग्यतम अधिकारी बनाया था। समवयस्क बालकों के साथ खेल कूद में वे अधिक भाग नहीं लेते थे। परन्तु किसी प्रकार के वाग-वितर्क में न्याय करने के लिये उनकी उपस्थिति अनिवार्य थी, उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे कितने ही अनासक्त क्यों न हों परन्तु जहाँ पर उनकी आवश्यकता होती थी वहाँ वे कभी भी उदासीन नहीं रहते थे। यह अद्भुत सामञ्जस्य आदि से अन्त तक और किसी भी ब्रह्मज्ञ पुरुष के जीवन के विषय में सुना नहीं गया।

बालक सिद्धार्थ शैशव में इसी प्रकार उदासीन और अनासक्त रहते थे। किसी भी व्यवहारिक विषय में वे अग्रसर नही होते थे। बालक विनोद सिद्धार्थ की भाँति आत्मसमाहित होने पर भी श्री श्रीकृष्ण की भाँति बाल्यावस्था से ही आवश्यकतानुसार सब काम में शक्ति का प्रयोग करने व सहायता देने के लिये तत्पर रहते थे। किसी भी प्रकार के अन्याय अत्याचार के प्रतीकार के लिये वे सदा उद्यत रहते थे। अवस्था के साथ साथ एक ओर जैसे ज्ञान व वैराग्य की वृद्धि हो रही थी, दूसरी ओर उसी अनुपात में समाज की विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिये भी अन्तर की व्याकुलता व चेष्टा का क्रमशः विकास हो रहा था। आगे इस विषय पर प्रकाश डाला जायेगा।

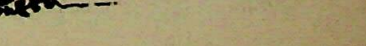

तपस्वी–ब्रह्मचारी विनोद

बालकविनोद में तपस्वी ब्रह्मचारी विनोद का विकास होने लगा। आहार निद्रा वेशभूषा में भी कठोर साधना चलने लगी। भोजन के लिये नमक, भात व आलू ही यथेष्ट था। षड़ऋतुओं केलिये-कौपीन, वर्हिवास व श्वेत उत्तरीय ही उनका सम्बल था। निद्रा नाम मात्र को ही थी। बालक की इस विलक्षण स्थिति को देखकर उनके पिता कभी कभी उनकी माता को बालक के प्रति विशेष ध्यान देने का निर्देष देते। एक बार उनके माता-पिता के आग्रह से उनके कुल पुरोहित श्री महेन्द्रनाथ चक्रवर्ती ने विनोद से थोड़ा घी दूध इत्यादि खाने का आग्रह किया।उसके उत्तर में बालक ने कहा– "भगवान ने जो शक्ति मुझे दी है वहो यथेष्ट है, उत्तेजक पदार्थ खाने से वह नष्ट हो जायेगी। यदि संयम से उसी शक्ति की रक्षा करूंगा तो वही पर्याप्त होगी। कढ़ाई में दूध गरम करते समय जैसे वह अधिक आँच से उफन कर गिर जाता है, वैसे ही भगवत्-प्रदत्त शक्ति को उत्तेजक पदार्थों द्वारा बढ़ाने की चेष्टा करने से वह नष्ट हो जाती है। मेरे में जो शक्ति है उसकी रक्षा करने में मैं कितना आनन्द पाता हूँ, यह आप लोग नहीं समझ सकते। मेरे में इतना आनन्द और इतनी शक्ति है कि एक आघात में इस पक्के दालान को गिरा डालूं।" इस कथन को सुनने के पश्चात् कुल पुरोहित ने पुनः कभी विनोद से इस प्रकार का आग्रह नहीं किया।

संयम व ब्रह्मचर्यही बालक-विनोद की साधना थी। विनोद स्वयं इस पर अचल अटल थे और जो कोई बालक व युवक उनके पास आते उनको

भी इस विषय में उपदेश और प्रोत्साहन देते थे। वीर्यधारण व इन्द्रिय-संयम ही शारीरिक, मानसिक, नैतिक व आध्यात्मिक सभी प्रकार की शक्तियों का मूल आधार है। इसी से मेधा प्रतिभा व कर्म परायणता में सफलता प्राप्त होती है। बाल्यावस्था से ही इस सिद्धांत का महत्व वे उपलब्ध कर चुके थे। आगे चलकर जब वे आचार्य पद पर आरूढ़ हुये तब भी असंख्य नर-नारियों में इसी संयम शक्ति का मन्त्र व प्रेरणा प्रदान करते थे। आध्यात्मिक तथा नैतिक महाभाव के पूर्ण आधार आचार्यदेव स्वयं ही भगवत् शक्ति के घनीभूत स्वरूप थे। जन्म से ही उन्हें आचार्यत्व का अधिकार था। जो भी उपदेश दिया, उसे स्वयं आचरण में पालन किया। यही है सच्चे आचार्य का लक्षण। नेतृत्व शक्ति व गुरुशक्ति के साथ ही महान आचार्य के भागवती गुणों से वे आजन्म युक्त थे। साधन-तपस्या द्वारा उन्होने इस पद को प्राप्त नहीं किया था, क्रमशः उनके जीवन आलेख्य में हम इस विषय का उल्लेख पायेंगे।

बालक विनोद तेरह चौदह वर्ष की आयु में ही ब्रह्मचारी विनोद के रूप में प्रकाशित हुये। उनके समय के अध्यापक द्वारा लिखित विवरणों से विनोद के तत्कालीन चरित्र पर, थोड़ा प्रभाव पड़ेगा। वह इस प्रकार लिखते हैं— "विनोद को केन्द्र कर बालक और युवकों का एक दल प्रस्तुत हुआ। वे उनके मध्यविन्दु थे। वे जो कुछ कहते सब उसका पालन करते। विनोद बालकों के नैतिक पतन से अत्यन्त दुखी थे। उस समय बालकों के सम्मुख दो प्रकार की कठिनाइयाँ थीं-एक नैतिक और दूसरी राजनैतिक। एक श्रेणीके बालक अल्प अवस्था से ही बीड़ी इत्यादि मादक वस्तुओं के अभ्यस्त होकर अनेक व्यसन और दुर्गुणों से अपने को दिन प्रतिदिन अधःपतित बनाते जाते थे। उनका जीवन घोर निराशामय बन जाता था। और वे वीर्यहीन होकर स्वास्थ्य, खो बैठते थे। उससे बालकों की स्वाभाविक कान्ति व सरलता नष्ट हो जाती थी।

यह सब देखकर विनोद का हृदय विदीर्ण हो उठता था विनोद कहते–"मास्टर साहब ! आप लोग नहीं जानते, परन्तु मुझे ज्ञात है कि बालकों में न ब्रह्मचर्य है न सरलता ! उनमें भविष्य के लिये कोई आशा व उद्यम नहीं हैं। ब्रह्मचर्य के क्षय से देश के बालकों तथा युवकों का सर्वनाश हो रहा है। जिसमें शक्ति नहीं है उससे देश जाति तथा समाज का क्या उपकार हो सकता है । इन सब आन्दोलनों से क्या होगा ? कोई यह नही समझता कि जो काम करेंगे वह मनुष्यत्व हीन होते जा रहे हैं।"

विनोद के हृदय में एक और गुप्त वेदना थी कि जिन बालको में सतसंस्कार था उनको भी पारिपार्श्विक मलिन वातावरण से सुरक्षित रखना एक महान समस्या थी। उन लोगों को मार्गदर्शन देनेवाला भी कोई नहीं था प्रपञ्ची साधुओं के दंभजाल में पड़कर वे लोग अपना सर्वनाश कर डालते थे। उनकी शक्ति के विकास का उपयुक्त क्षेत्र नहीं था तथा योग्य-परिचालक के अभाव से वे लोग उचितरूप से उन्नति नहीं कर सकते थे। उपयुक्त कर्मक्षेत्र तथा आदर्श नैतिक व आध्यात्मिक नेतृत्व के अभाव को विनोद उचित रूप से अनुभव कर रहे थे और इन दो महान अभाओं के कारण उनका हृदय सर्वदा व्यथित व चिन्तित रहता था। सहानुभूति व आन्तरिक समवेदना से उनका अन्तःकरण ममाहत हो उठता था परन्तु उनमें निराशा का लेशमात्र भी स्थान नहीं था। इन समस्त समस्याओं के समाधान के लिये उनके हृदय में एक श्रेष्ठ उपाय अनुसंधान करने का दृढ़ संकल्प जाग्रत हो रहा था।

ई० सन् १९१० तथा ११ में जब उनकी आयु चौदह पन्द्रह वर्ष की थी, उनकी ब्रह्मचर्य साधना पूर्ण विकसित सी हो उठी थी । अटूट भाव से वीर्य की रक्षा, आहार संयम व नियमित व्यायाम के द्वारा वे असाधारण शारीरिक एवं मानसिक शक्ति के अधिकारी हुये थे। परन्तु साधारण लोग, यहाँ

तक कि स्वयं उनके पिता भी कभी कभी कहते कि बालक किसी प्रकार के खेल-कूद में भाग नहीं लेता, इसीलिये उसमें शक्ति नही है, केवल शरीर ही स्थूलाकार है। परन्तु कुछ असाधारण घटनाओं के कारण श्री विष्णुदास जी की यह धारणा जाती रही। एक दिन कुछ लकड़हारे एक वृक्ष को काट रहे थे। उसे चीरने के लिये तने को भूमि पर खड़ा करने की आवश्यकता थी। पन्द्रह सोलह व्यक्ति मिल कर जिसे हिला नहीं पा रहे थे, ब्रह्मचारी जी ने उसे बिना किसी की सहायता के उठाकर खड़ा कर दिया। यह दृश्य देखकर दूर खड़े हुये उनके पिता विस्मय-विमुग्ध रह गये, और एक दिन विनोद नदी तट से जा रहे थे, वहाँ पर कुछ लोग एक नौका को ऊपर चढ़ाने के लिये अत्यधिक परिश्रम कर रहे थे। उन लोगों के अनुरोध करने पर ब्रह्मचारी जी ने उसे अकेले ही खींच कर ऊपर चढ़ा दिया। ऐसी ही अनेक असाधारण घटनाओं से उनकी विस्मय कारी शारीरिक शक्ति की ख्याति चतुर्दिक प्रसारित होने लगी।

आजकल अधिकांश लोगों का कहना है कि पौष्टिक खाद्य के अभाव से ही शारीरिक शक्ति व स्वास्थ्य की हानि हो रही है। बालकों तथा युवकों के प्रति जो सहानुभूति प्रगट करते हैं उन सभी के लिये यही एक विचारणीय वस्तु प्रतीत होती है। परन्तु यह कोई नहीं समझता कि संयम नहीं रहने से पौष्टिक भोजन भी व्यर्थ हो जाता है। छिद्र युक्त घड़े में जितना भी जल भरते रहो परन्तु अन्ततः उसे कोई पूर्ण नहीं कर सकता।

जो लोग आत्मप्रवञ्चना को छोड़कर सत्य तत्त्व को ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत हैं उन्हें इस सिद्धान्त को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि-संयम साधना और वीर्यधारण ही शारीरिक मानसिक तथा आध्यात्मिक सर्व प्रकार की शक्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है। परिमित रूप से लघुपाच्य भोजन

और नियमित शारीरिक व मानसिक परिश्रम ही स्वास्थ्य, आयु और आरोग्य का राजमार्ग है।

क्रमशः ब्रह्मचारी जी की असाधारण शारीरिक शक्ति का समाचार चारों ओर प्रसारित होने लगा। एक दिन कई एक मुसलमान सरदार विष्णु-चरण जी के घर पर जा उपस्थित हुये। वे सभी ब्रह्मचारी जी को देखने के लिये गये थे। उस समय ब्रह्मचारी जी पितृ-गृह से पृथक निकट ही एक कुटीर में रहते थे। उन लोगों को कुटिया के अन्दर झाँकते हुये देखकर ब्रह्मचारी जी बाहर आये। तब वे लोग बारम्बार ब्रह्मचारी जी से शारीरिक शक्ति का परिचय देने के लिये हठ करने लगे। पुनः पुनः समझाने पर भी जब वे लोग नहीं माने तो उन्होंने एक एक को उठाकर दूर फेंकना आरम्भ किया। तब वे उन्हें अपना "उस्ताद" मानकर सलाम करते हुये चले गये। इसी प्रकार एक अत्यन्त बलिष्ठ व दुर्वृत्तकारी मुसलमान सरदार को उन्होंने उठाकर बहुत दूर फेंक दिया था, कारण वह गाँव के निरीह हिन्दुओं पर अत्यन्त अत्याचार करता था। परन्तु ब्रह्मचारी जी की शासनवाणी तथा उपयुक्त दण्ड मिलने से वह शान्त हो गया। इस घटना के उपरान्त दूर-दूर के गाँवो में भी जो दुर्वृत्तकारी गुण्डे थे-वे ब्रह्मचारी जी की मण्डली से भयभीत रहते थे। ब्रह्मचारी जी का दल जैसे दुष्टों के लिये यमरूप था, दीन दुखियों के लिये वैसे ही परम आश्रय स्वरूप था। वे लोग पीड़ितों की सेवा, अभिभावक-शून्य मृतकों का संस्कार तथा अत्याचारितों की रक्षा व उनको अभयदान करते थे। इस प्रकार ब्रह्मचारी जी के दल को साधारण जनता अपना परम हितैषी समझने लगी, साथ ही दुर्वृत्तगणों का दुःसाहस भी शान्त होने लगा।

भावी जीवन के धर्म-संस्थापक आचार्य ने सुस्पष्टरूप से व्यक्त किया कि वर्तमान हिन्दू-धर्म के नाम से जो धर्म आज प्रचलित है वह अधर्म है,

अपधर्म मात्र है ! वह क्लीव-कापुरुषों का नीतिरहित, शक्तिरहित, उदारता व सत्यता रहित केवल एक मिथ्या भ्रममात्र है। संक्षेप में यही कि वह मूल वैदिक हिन्दू धर्म नहीं है। सच्चा धर्म तो श्री रामचन्द्र का है, श्रीकृष्ण का है भीमार्जुन का है, रामायण-महाभारत का है, गीता और चण्डी—(श्री श्री दुर्गा सप्त शती) का धर्म है। समर्थ रामदास तथा गुरु गोविन्दसिंह के धर्म प्रचार और प्रतिष्ठा से सच्चे हिन्दू-धर्म का शिलारोपण हुआ था । हिन्दू-धर्म के दिग्विजयी आदर्शों की प्रतिष्ठा ऐसे ही महान आचार्यगण कर गये हैं। ऐसे युगावतारों के बाल्य जीवन में ही उस महाभाव का अंकुर निहित रहता है। विशाल वटवृक्ष की उद्गम शक्ति लघु-आकृति बीज में अनुप्रवृष्ट रहती है। आंग्ल भाषा में कहावत है "Child is the father of the man."। हिन्दी में भी चलित रूप से कहा जाता है—"होनहार बिरवान के होत चीकने पात' । अर्थात् जो भविष्य में महान होगा उसके शैशव में ही कुछ न कुछ लक्षण परिलक्षित होते हैं।

ब्रह्मचारी जी की तपस्या क्रमशः कठोरतर होने लगी। अटूट ब्रह्मचर्य व योग-साधना से उनके अंग-प्रत्यंग से संयम की ज्योति विकीर्ण होने लगी। मुखमण्डल सदा ही एक महाभाव की दिव्यकांति से उद्भासित था। क्रमशः वे यथा सम्भव बाह्य सम्बन्धों का त्याग कर अधिकांश समय कुटीर में ही निवास करने लगे। इस समय आहार तो नाम मात्र को ही था, निद्रा को भी सम्पूर्ण रूप से त्याग दिया। रात्रि के समय अपने कुटीर में अथवा नदी तट पर श्मशान भूमि में जपध्यान में लीन रहते थे। इस प्रकार की कठोर साधना से छः वर्ष तक सतत सम्पूर्ण विनिद्र रहे। श्मशान में जब समस्त रात्रि ध्यान मग्न रहते तब रात्रि में चलने वाले यात्री उन्हें देखकर कभी कभी भयभीत होते थे।

ब्रह्मचारी जी के इस साधनजीवन के विषय में किसी को कुछ ज्ञात नहीं था। वे भी कभी इस विषय में संकेत नहीं करते। एक दिन एक विशेष घटना घटी। योग-साधन के समय श्वास ग्रहण के साथ ही वे समाधिस्थ हो गये। कुम्भक द्वारा निरुद्ध वायु का मस्तिष्क पर आघात हुआ। जब समाधि से स्वाभाविक चेतना की भूमिका में आये तो नासिका से रक्त की धारा बहने लगी। परिवार के लोगों को यह ज्ञात होते ही वे अधीर होकर चिकित्सक बुलाने के लिये व्यस्त हो उठे। ब्रह्मचारी जी को ज्ञात था कि इसमें चिकित्सक की कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने सबको व्यस्त देखकर अपने पिता के मित्र श्रीकालीप्रसन्न चक्रवर्ती से कहा—"मेरे नाक से जो रक्तपात हो रहा है वह किसी रोग के कारण नही है। योगक्रिया में किंचित व्यतिक्रम होने के कारण ऐसा हुआ है। दूसरी क्रिया से यह ठीक हो जायेगा।" यह सुनकर चक्रवर्ती जी ने प्रश्न किया—"तुम कहीं अन्यत्र नहीं गये, योग साधना कहाँ से सीखी? ब्रह्मचारी जी ने कहा—"मुझे सब ज्ञात है किसी से सीखना नहीं पड़ा"। यह सुनकर चक्रवर्ती महाशय के विस्मय का अन्त न रहा और वे विचार करने लगे कि यह अवश्य ही कोई योगभ्रष्ट महापुरुष है। तब रक्तपात के विषय में उन्होंने ब्रह्मचारी जी के पिता जी को समझा दिया। तब से पिता के अन्तःकरण में पुत्र के प्रति और भी अधिक श्रद्धा जाग्रत हुई। अभी तक तो वे बालक के जीवन को कुछ विचित्र सा ही समझते थे। अब उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ।

शनैः शनैः ब्रह्मचारी जी की चेतना अतीन्द्रिय भूमिका में रहने लगी। यन्त्र की भाँति शरीर अपना धर्म करता जाता था, परन्तु अधिकांश समय वे भावमग्न रहते थे। किसी किसी दिन देखने में आता था कि वे पुस्तक खोलकर बैठे हैं—मानो अध्ययन कर रहे हैं, दीपक जल रहा है, परन्तु

उनकी चेतना किस अनन्तअसीम में विलीन हो गई है इसका कुछ ज्ञ न ही नहीं रहा। बाह्य ज्ञान सम्पूर्णतया विलुप्त हैं, समस्त रात्रि इसी प्रकार व्यतीत हो गई । प्रातःकाल बुलाने पर बाह्यचेतना में आये। क्रमशः इसी अवस्था की वृद्धि होने लगी तथा बाह्यसम्बन्ध छूटने लगा यहाँ तक कि शरीर रक्षा के व्यापार से भी उदासीन रहने लगे।

आलस्य-निद्रा-तन्द्रा-जड़ता को ब्रह्मचारी जी परम शत्रु मानते थे। इसलिये वे सदा ही जाग्रत अवस्था में रहते थे। आजीवन उन्होंने इन शत्रुओं को तनिक भी प्रश्रय नही दिया। एक समय शीतकाल में कम्बल ओढ़कर विश्रोम कर रहे थे, उस समय कुछ तन्द्रा का आवेश आया उसी समय कम्बल को दूर फेंक दिया और प्रतिज्ञा की कि पुनः कभी इस प्रकार कम्बल का व्यवहार नहीं करूँगा। और वास्तव में पुनः कभी कम्बल नहीं ओढ़ा। केवल बैठ कर ही विश्राम करते थे। उत्तर काल में कभी कभी आश्रित सन्तानों को कहते "निद्रा की प्रतिदिन क्या आवश्यकता है ? मास में एक रात सोना ही यथेष्ट है।"

ब्रह्मचारी जी की ब्रह्मचर्य साधना के मुख्य अंग हैं— आहार संयम निद्रासंयम, वाक्सँयम, दृष्टिसंयम, संकल्पसाधना एवं मृत्यु चिन्ता या वैराग्य साधना। उन्होने इन सभी नियमों का पूर्ण पालन किया था। उत्तर काल में त्यागी, सन्यासी, ब्रह्मचारी, तथा कर्मीगणों को इस विषय में विशेष उपदेश देते थे। उनके आहार संयम के विषय में तो पहले ही उल्लेख किया गया है। वे नमक, भात व आलू के अतिरिक्त और कुछ नहीं खाते थे, परन्तु डेढ़मन वजन का मुगद्र पाँच हजार बार घुमाते थे (भाँजते थे)। उत्तर काल में वे अपने त्यागी सन्तानों को आहार संयम के विषय में इस प्रकार

कहते— "भोजन न करने से कितने मनुष्य मरते हैं ? अपरिमित व अहितकर भोजन से ही अधिकांश लोग रोग व मृत्यु के शिकार बनते हैं। जितने भी रोग हैं वे सब असंयम के ही फलस्वरूप हैं। कहीं पर अधिक भोजन तो कहीं पर अभक्ष्य भक्षण। शाक और भात से ही यह शरीर बना है। तुम लोग शाक भात खाकर ही देश-विदेश में इतना कठोर परिश्रम करते हुये जीवन व्यतीत कर रहे हो। क्या तुम लोगों का शरीर अन्य लोगों से दुर्बल है ? क्या किसी से शक्ति में कम हो ? अथवा तुम लोग अस्वस्थ रहते हो ? यथार्थ वस्तु हैं-संयम और वीर्य रक्षा। जो वीर्य धारण करता है वह नमक भात खाकर भी निरोग, बलवान, और कार्यक्षम रह सकता है।"

वे कहते थे—"ब्रह्मचारी को प्रतिक्षण रिपु-इन्द्रियों के साथ युद्ध करना पड़ता है। अतएव संग्राम क्षेत्र में जैसे सैनिक सदैव सशस्त्र प्रस्तुत रहता है उसी प्रकार साधक को भी रिपु-इन्द्रियों के मोह को दूर करने के लिये तत्पर रहना चाहिये।"

वाक्-संयम पर शैशव से ही उनका विशेष ध्यान था। स्वभाव से ही वे मितभाषी थे। "वाणी और वीर्य की रक्षा कृपण के धन के समान करना चाहिये"—यही उनका उपदेश था। "वाक् संयम नहीं करने से भाव की एक निष्ठता, मन की स्थिरता, चित्त की एकाग्रता, चिन्ता की गम्भीरता व अन्तर की शान्ति सभी वस्तुयें नष्ट हो जाती हैं। इसमें असंयत

होने से मनुष्य संकल्पित कर्त्तव्य व दायित्व को सम्पन्न करने में असमर्थ होकर मिथ्याचार का आश्रय लेता है। वाक् संयम नहीं रहने से मनःसंयम आकाश कुसुम की भाँति असम्भव वस्तु है।"

संकल्प को रक्षा ही सत्य की साधना है। यही ब्रह्मचारी जी का सिद्धान्त था। उन्होंने आजीवन छोटे-बड़े किसी प्रकार के संकल्प को व्यर्थ नहीं होने दिया। "संकल्प से च्युत होने से पूर्व प्राण वायु को निकल जाना चाहिये।" यही उनकी प्रतिज्ञा थी। उनके निकट उपदेश लेने के लिये जो कोई आता था उसे प्रथम उपदेश यही देते थे। जीवन में कभी भी वे संकल्प से च्युत नहीं हुये। "संकल्पमें जो दृढ़ है, प्रतिज्ञा में जो अविचल है, सर्व प्रकार की सिद्धि उसके करतल गत है।" यही सब साधना का बीजमन्त्र है। यह उत्साहमयी वाणी उनके श्री मुख से सदा ही सुनाई पड़ती थी। इस संकल्प साधना के मार्ग पर कैसे अग्रसर होना पड़ता है, किस प्रकार छोटे व सरल संकल्प ग्रहण कर उन्हें पूर्ण रूप से पालन करते करते संकल्प शक्ति विकसित होकर दृढ़ होती है-यह वे अपने आचरण द्वारा चरितार्थ कर दूसरों को सिखाते थे। संकल्प के साथ संयमपूर्वक नियमित भोजन, निद्रा, विहार व वार्तालाप आदि कार्यों को करते करते शरीर व मन में धैर्य, स्थैर्य व सहन शीलता की वृद्धि होती है। इससे प्रतिज्ञापालन की शक्ति व उत्साह दोनों ही बढ़ते हैं। आत्म विकास की साधना में सफलता प्राप्त होती है। इच्छा शक्ति (Will power) भी दृढ़ व विकसित होंती है। साथ ही क्रमशः कठिन विषय के लिये संकल्प लेने का सामर्थ्य व साहस आता है।

ब्रह्मचारी जी इसी प्रकार संकल्प बद्ध होकर नियमित रूप से समयानुसार (Regularly and punctually) सब काम करते थे। इससे

उनकी संकल्प शक्ति इतनी अमोघ बन गई थी कि कितने ही बार वे असाध्य साधित करते थे। असम्भव भी उनकी दृढ़ इच्छाशक्ति के सम्मुख सम्भव बन जाता था। संकल्पारूढ़ होकर वे छः वर्ष तक सम्पूर्ण विनिद्र रहे। इस प्रकार की संकल्प साधना से ही वे सिद्ध संकल्प हुये थे। उनके जीवन के परवर्ती-काल में देखा गया है कि नितान्त असम्भव वस्तु का भी यदि वे उच्चारण करते तो वह सत्य में परिणत हो जाता था। इसका परिचय पाठकों को आगे चलकर मिलेगा। संकल्प साधना से उनके व्यक्तित्व का आकर्षण और प्रभाव अमोघतम बन गया था। कितना भी उदासीन या विरोधी व्यक्ति क्यों न हो उनके पास आने से मन्त्र-मुग्ध सर्प की भाँति शान्त हो जाता था।

मृत्यु-चिन्ता या वैराग्य साधना ब्रह्मचारी जी की परम प्रिय वस्तु थी। संसार की असारता, शरीर का शोचनीय परिणाम, भोग्य-विषयों की क्षणभंगुरता-इस प्रकार की वैराग्य साधना से मानव का मन संसार की आसक्ति से दूर हट जाता है, तथा रिपु-इन्द्रियों का मोह उसे मुग्ध नहीं कर सकता। इन्द्रिय-वृत्तियाँ उसे भोग के आधीन नहीं कर सकतीं। ब्रह्मचारी जी इस वैराग्य-साधना की चरम सीमा पर पहुँच चुके थे, इसके फलस्वरूप वे देहज्ञान से ऊर्ध्व एक अपूर्व विदेहावस्था में ही सदा अधिष्ठित रहते थे। अपने परिचित मृत व्यक्तियों का नाम लिखकर सामने रखते थे, अपने मृत भ्रातुष्पुत्र की खोपड़ी हाथ में लेकर घन्टों, यहाँ तक कि समस्त रात्रि ही मृत्यु-चिन्ता व वैराग्य विचार में तल्लीन रहते थे।

मानस चक्षु के सम्मुख सर्वदा इस शरीर के अन्तिम परिणाम-दो मुट्ठी भस्म का ध्यान करते थे। उत्तरकाल में अपने आश्रित त्यागी सन्तानों को उपदेश और प्रोत्साहन देते हुये अपने जीवन की इस अनुभूति का प्रोज्ज्वल

रूप से वर्णन करते थे—"वह भी एक कैसी स्थिति थी ? खोपड़ी हाथ में लिये ही समस्त रात्रि व्यतीत हो गई। दिवारात्रि का कब आवागमन हुआ इसका लेशमात्र भी ज्ञान न रहा। मेरे दिन-रात के प्रिय साथी यह मुद्गर जिसे मैं प्रतिदिन पाँच हजार बार भाँजता था-उसका भी ध्यान नहीं रहता था। हाथ में उठाने से भी गिर जाता था। यह मृत्यु-चिन्ता या वैराग्य साधना ही विवेकी का एकमात्र सम्बल है। मृत्यु-चिन्ता रिपुःइन्द्रिय के प्रभाव को नष्ट करती है, सुप्त तेज-वीर्य को जाग्रत करती है, आलस्य-निद्रा-तन्द्रा-जड़ता के मोह को नष्ट कर अनन्त कर्म शक्ति, उद्यम, अध्यवसाय को जाग्रत करती है। मृत्यु चिन्ता ही आत्म-चिन्तन की प्रेरणा देती है। माया-मोह, भ्रम-भ्रान्ति को दूर हटाकर मनुष्य को आत्मज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान के मार्ग पर अग्रसर करती है। बुद्ध-शंकर तथा चैतन्य ने इस मृत्यु चिन्ता तथा वैराग्य-साधना से ही अपनी स्थिति को प्राप्त किया था।

आजन्म उर्द्धवरेता ब्रह्मचारी जी की कठोर तपश्चर्या तथा अमोघ संकल्प शक्ति से उनका आत्म-विश्वास तथा स्वातन्त्र्यबोध ऐसा दुर्दमनीय हुआ था कि प्रत्यक्ष अनुभूति के बिना वे किसी वस्तु पर विश्वास ही नहीं करते थे। हाथो-हाथ प्रमाण-परिचय न मिलने से केवल शास्त्र में यह वस्तु है इसलिये उसे मानना-यह उनके सिद्धान्त के विरुद्ध था। प्रकृत आचार्य का यही मुख्य लक्षण है।

ऋषियों की अपरोक्षानुभूति ही शास्त्र है। शास्त्रीय-तत्त्व युग-पुरुष (युगाचार्य) के जीवन में प्रकाशित न होने से साधारण जनता उसे कैसे विश्वास

करेगी ? आजकल जो विश्वास प्रचलित है वह तो केवल गतानुगतिक-सा है। उस विश्वास का कोई मूल्य नहीं है। जिन्हें आचार्यरूप में लोगों को शिक्षा देना है, उनका इस प्रकार के अन्ध-विश्वास से काम नहीं चल सकता। वे तो प्रत्येक शास्त्र-तत्त्व का अनुभव कर युग के अनुसार उनका प्रचार कर जाते हैं और इस प्रकार के युगधर्म द्वारा ही प्रत्येक युग का कल्याण साधित होता है। प्रत्येक युग की अपनी निजी समस्यायें होती हैं और उनका समाधान भी युग-पुरुष द्वारा विशेषरूप से सम्पादित होता है।

ब्रह्मचारी जी के पितृ-गृह के निकट ही कविराज हरविलासदास के घर पर श्री श्री दुर्गा पूजा हो रही थी। रात्रि में जब कोई वहाँ पर नहीं रहता था उस समय ब्रह्मचारी जी देवी प्रतिमा का दर्शन करने जाते थे। एक दिन मूर्ति के सम्मुख जाते ही उनके हृदय में विचार आया—'प्रतिमा में देवी का आविर्भाव होता है या नहीं ?" जैसे ही यह विचार आया—संकल्प लेकर बैठ गये—"देवि ! सत्य हो तो प्रतिमा में मातृरूप में आविर्भूत होकर दर्शन दो, नहीं तो समझूंगा यह सब मिथ्या-प्रवंञ्चना है। इस मृण्मयी प्रतिमा को विचूर्ण कर डालूंगा।" यही संकल्प लेकर वे प्रतिमा के सम्मुख उपविष्ट हुये। निष्पलक नेत्रों से देवी की ओर देखते देखते वे समाधिस्थ हो गये। श्रेष्ठतम साधक के पुण्य संकल्प ने जगत् जननी को विगलित कर दिया। मृण्मयी प्रतिमा चिन्मयी हो उठीं। अतीन्द्रिय दिव्य ज्योति से चारो ओर उद्भासित हो गया। आकाश से पृथ्वी तक परिव्याप्त जगज्जननी की प्रसन्नतामयी विश्वमूर्त्ति प्रकाशित हुई। ब्रह्मचारी जी भूमानन्द में लीन हो गये। विश्व-व्यापिनी महामाया—भक्त के प्रति कृपा करके मृण्मयी-प्रतिमा में आविर्भूत होकर भक्त के प्रेम-अर्घ्य को ग्रहण करती हैं"-यह तत्त्व समझाकर ज्योति रूपिणी महाशक्ति ब्रह्मचारी जी के शरीर में प्रवेश कर गईं।

इस घटना से प्रमाणित होता है कि उनके मन में कितना अमोघ आत्म-विश्वास था। प्रत्यक्षानुभूति के बिना किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करूंगा। चाहे कितनी ही कठिनाइयों का सामना क्यों न करना पड़े-सब कुछ सहन करूंगा। यह भाव और ऐसी दृढ़ता उनका जन्म-सिद्ध स्वभाव था। आयु और तपस्या की वृद्धि के साथ वह बढ़ता ही गया। उत्तरकाल में आचार्यरूप में-वर्त्तमान समाज में धर्म के नाम पर जो आडम्बर व प्रवञ्चना का प्रसार हो रहा है, उस पर कठोर आघात करते हुये उन्होंने वज्रदृढ़ स्वर में, सत्य तत्त्व को इस प्रकार घोषित किया—"धर्म नहीं है माला में, झोला में, न धर्म है तिलक-त्रिपुन्ड में। वेशभूषा में धर्म नहीं है, मन्दिर या मस्जिद में धर्म नहीं है। केवल कुरान-पुराण में भी धर्म नहीं है। धर्म है-साधना में, आचरण में, अनुष्ठान में, अनुभूति में-त्याग-संयम-सत्य-ब्रह्मचर्य में ही धर्म है।" आत्मोपलब्धि के प्रति उनकी कैसी निष्ठा, कितना आग्रह था यह इसी वाणी से प्रमाणित होता है। वे कहते थे "धर्म के नाम पर सर्व प्रकार की प्रवञ्चना व संकीर्णता से नास्तिकता भी अच्छी है।"

तथागत बुद्ध के जीवन पर ध्यान देने से ज्ञात होता है सिद्धार्थ ने संसार -त्याग कर आडार-कलाम को गुरु रूप में स्वीकार किया, तदुपरान्त रुद्रक के पास शिक्षा ली। परन्तु किसी से भी आकांक्षित वस्तु की प्राप्ति नहीं हुई। तदुपरान्त आत्म-शक्ति पर निर्भर कर महान संकल्प ग्रहण कर कठोर साधना में बैठ गये और इस प्रकार आत्म-पौरुष व अमोघ संकल्प शक्ति से बोधिलाभ कर आत्मकाम हुये।

ब्रह्मचारी विनोद भी तथागत की भाँति आत्म सामर्थ्य व अजेय संकल्प शक्ति पर विश्वास रखते थे। उन्होंने गुरु की आवश्यकता का अनुभव

करेगी ? आजकल जो विश्वास प्रचलित है वह तो केवल गतानुगतिक-सा है। उस विश्वास का कोई मूल्य नहीं है। जिन्हें आचार्यरूप में लोगों को शिक्षा देना है, उनका इस प्रकार के अन्ध-विश्वास से काम नहीं चल सकता। वे तो प्रत्येक शास्त्र-तत्त्व का अनुभव कर युग के अनुसार उनका प्रचार कर जाते हैं और इस प्रकार के युगधर्म द्वारा ही प्रत्येक युग का कल्याण साधित होता है। प्रत्येक युग की अपनी निजी समस्यायें होती हैं और उनका समाधान भी युग-पुरुष द्वारा विशेषरूप से सम्पादित होता है।

ब्रह्मचारी जी के पितृ-गृह के निकट ही कविराज हरविलासदास के घर पर श्री श्री दुर्गा पूजा हो रही थी। रात्रि में जब कोई वहाँ पर नहीं रहता था उस समय ब्रह्मचारी जी देवी प्रतिमा का दर्शन करने जाते थे। एक दिन मूर्ति के सम्मुख जाते ही उनके हृदय में विचार आया—'प्रतिमा में देवी का आविर्भाव होता है या नहीं ?" जैसे ही यह विचार आया—संकल्प लेकर बैठ गये—"देवि ! सत्य हो तो प्रतिमा में मातृरूप में आविर्भूत होकर दर्शन दो, नहीं तो समझूंगा यह सब मिथ्या-प्रवंञ्चना है। इस मृण्मयी प्रतिमा को विचूर्ण कर डालूंगा।" यही संकल्प लेकर वे प्रतिमा के सम्मुख उपविष्ट हुये। निष्पलक नेत्रों से देवी की ओर देखते देखते वे समाधिस्थ हो गये। श्रेष्ठतम साधक के पुण्य संकल्प ने जगत् जननी को विगलित कर दिया। मृण्मयी प्रतिमा चिन्मयी हो उठीं। अतीन्द्रिय दिव्य ज्योति से चारो ओर उद्भासित हो गया। आकाश से पृथ्वी तक परिव्याप्त जगज्जननी की प्रसन्नतामयी विश्वमूर्त्ति प्रकाशित हुई। ब्रह्मचारी जी भूमानन्द में लीन हो गये। विश्व-व्यापिनी महामाया—भक्त के प्रति कृपा करके मृण्मयी-प्रतिमा में आविर्भूत होकर भक्त के प्रेम-अर्घ्य को ग्रहण करती हैं"-यह तत्त्व समझाकर ज्योति रूपिणी महाशक्ति ब्रह्मचारी जी के शरीर में प्रवेश कर गईं।

इस घटना से प्रमाणित होता है कि उनके मन में कितना अमोघ आत्म-विश्वास था। प्रत्यक्षानुभूति के बिना किसी वस्तु को स्वीकार नहीं करूंगा। चाहे कितनी ही कठिनाइयों का सामना क्यों न करना पड़े-सब कुछ सहन करूंगा। यह भाव और ऐसी दृढ़ता उनका जन्म-सिद्ध स्वभाव था। आयु और तपस्या की वृद्धि के साथ वह बढ़ता ही गया। उत्तरकाल में आचार्यरूप में-वर्त्तमान समाज में धर्म के नाम पर जो आडम्बर व प्रवञ्चना का प्रसार हो रहा है, उस पर कठोर आघात करते हुये उन्होंने वज्रदृढ़ स्वर में, सत्य तत्त्व को इस प्रकार घोषित किया—"धर्म नहीं है माला में, झोला में, न धर्म है तिलक-त्रिपुन्ड में। वेशभूषा में धर्म नहीं है, मन्दिर या मस्जिद में धर्म नहीं है। केवल कुरान-पुराण में भी धर्म नहीं है। धर्म है-साधना में, आचरण में, अनुष्ठान में, अनुभूति में-त्याग-संयम-सत्य-ब्रह्मचर्य में ही धर्म है।" आत्मोपलब्धि के प्रति उनकी कैसी निष्ठा, कितना आग्रह था यह इसी वाणी से प्रमाणित होता है। वे कहते थे "धर्म के नाम पर सर्व प्रकार की प्रवञ्चना व संकीर्णता से नास्तिकता भी अच्छी है।"

तथागत बुद्ध के जीवन पर ध्यान देने से ज्ञात होता है सिद्धार्थ ने संसार -त्याग कर आडार-कलाम को गुरु रूप में स्वीकार किया, तदुपरान्त रुद्रक के पास शिक्षा ली। परन्तु किसी से भी आकांक्षित वस्तु की प्राप्ति नहीं हुई। तदुपरान्त आत्म-शक्ति पर निर्भर कर महान संकल्प ग्रहण कर कठोर साधना में बैठ गये और इस प्रकार आत्म-पौरुष व अमोघ संकल्प शक्ति से बोधिलाभ कर आत्मकाम हुये।

ब्रह्मचारी विनोद भी तथागत की भाँति आत्म सामर्थ्य व अजेय संकल्प शक्ति पर विश्वास रखते थे। उन्होंने गुरु की आवश्यकता का अनुभव

कभी नहीं किया। जन्म से प्राप्त उच्च आध्यात्मिक सम्पद ही, उनको अभ्रान्त एवं निर्बाधरूप से अभीप्सित मार्ग पर परिचालित कर आकांक्षित वस्तु की उपलब्धि की ओर अग्रसर कर रहा था। योग्य गुरु के लिये साधक में जो आग्रह, व्याकुलता या अनुसंधान करने की इच्छा दिखाई पड़ती है, ई० सन् १९१३ तक वह उत्कण्ठा उनमें नहीं थी। उनके विद्यालय के प्रधान अध्यापक वीरेन्द्रबाबू ने एक निबन्ध में इस प्रकार उल्लेख किया है-"संसार में रहने से कुछ नहीं होगा, किसी को सहायता करना असम्भव है"-यह सब विचार विनोद को दुखी करते थे। गृह त्याग की प्रस्तुति वह कर रहा था। प्रसंगवश एक दिन मुझसे कह भी दिया-"अच्छा नहीं लगता मास्टर महाशय! घर छोड़कर चला जाऊंगा, सन्यासी बनूंगा, नहीं तो कुछ नहीं हो सकता। देश को बचाना असम्भव है। बालकों तथा युवकों की नैतिक अधोगति अन्तिम सीमा तक पहुंच चुकी है, यह दृश्य मेरे लिये असहनीय है।' सहसा विनोद के मुख से ऐसा सुनकर मैं विचार में पड़ गया। कारण मुझे ज्ञात था कि अनेक युवक इसी प्रकार सामयिक उत्तेजना के वशीभूत होकर घर से निकल कर अपना अमूल्य जीवन नष्ट कर देते हैं। अतः विनोद से मैंने कहा-"कहाँ जाओगे? किसके प्रपञ्च में पड़कर जीवन नष्ट करोगे? धैर्य रखो! प्रतीक्षा करो। इस प्रकार तेइस वर्ष का शिक्षक मैं, सत्रह वर्ष के विद्यार्थी को जब उपदेश कर रहा था-तब विनोद अधीर सा हो उठा। यह देखकर मैंने उससे कहा-मेरी कुछ समझ में नही आता। यदि जाना ही है तो जिनका आश्रय मैंने ग्रहण किया है उनके पास जाओ। वे तुम्हें प्रवञ्चना में नहीं डालेंगे, उचित मार्ग बतला देंगे।"

"मास्टर साहब! क्या कोई मनुष्य गुरु बन सकता है?" विद्यार्थी का यह प्रश्न सुनकर मैं स्तब्ध रह गया। थोड़े दिनों तक इस पर वाद-विवाद

चलता रहा कि मनुष्य गुरु कैसे बनेगा। गुरु की क्या आवश्यकता है ? मनुष्य के सामने क्यों शिर झुकायें। इन सब तर्क-वितर्क के माध्यम से अर्न्तयामी गुरु ने विनोद को गुरु की आवश्यकता धीरे-धीरे समझा दी। अन्त में सिंह शिशु वश में आया। योग्य समय आया था इसलिये अयोग्य शिक्षक ही निमित्त बन गया। एक दिन सहसा विनोद ने आकर कहा—"मास्टर महाशय ! मैं जाऊंगा, दीक्षा लूंगा-यह कहकर वह हँसने लगा।"

इन वाक्यों से ही ज्ञात होता है कि ई० सन् १८९३ में केवल सत्रह वर्ष की अवस्था में ही ब्रह्मचारी जी की तपस्या व वैराग्य चरम सीमा तक पहुँच चुका था। परन्तु वे अपनी आध्यात्मिक साधना की सहायता के लिये इतने व्याकुल नहीं थे जितने कि देश की नैतिक अधोगति तथा धर्मग्लानि के लिये इन सबके प्रतिकार के लिये वे अस्थिर हो उठे।

बुद्धदेव भी व्यक्तिगत शान्ती तथा मुक्ति के लिये गृह-त्याग कर निर्वाण के संधान में बाहर नहीं गये थे। जन्म-जरा-व्याधि-मृत्यु के दृश्य ने उन्हें संसार के वास्तविक वीभत्स स्वरूप का नग्न चित्र दिखाया। इसलिये वे विश्वमानव की शान्ति व मुक्ति के लिये निर्वाण लाभ की कठोर तपश्चर्या में प्रवृत्त हुये। संसार का दुःख-दावानल शान्त करूंगा-यही उनका प्रण था।

ब्रह्मचारी विनोद को भी आत्ममुक्ति की लालसा नहीं थी। उच्च आध्यात्मिक सम्पद तथा दुर्दमनीय पुरुषार्थ से वे इच्छित अवस्था पर प्रतिष्ठित थे। परन्तु विश्व के दुख, क्लेश से उनका हृदय विदीर्ण हो रहा था यही उनकी मर्म वेदना थी।

प्रधान शिक्षक महाशय के पुनः पुनः कहने पर भी वे किसी मनुष्य को गुरु बनाना नहीं चाहते थे, परन्तु अन्त में वे गुरु-ग्रहण के लिये स्वीकृत

हुये। उसका रहस्य यही है कि वे स्वयं आत्मनिष्ठ तथा आत्म प्रतिष्ठित थे- "नानवाप्तं अवाप्तव्यं" उनका अप्राप्त या प्राप्तव्य कुछ भी नहीं था। इसलिये वे गुरु की आवश्यकता अनुभव नहीं करते थे। देश व जाति की महामुक्ति के अनुसंधान में वे व्याकुल हो उठे थे। इसी कारण से वे गृह त्याग कर सन्यास ग्रहण करना चाहते थे। शिक्षक महाशय को उनके भाव का आंशिक अनुमान ठीक ही हुआ था।

गुरुकी आवश्यकता का पहले अनुभव न करने पर भी जब उन्हें अर्न्तयामी का निर्देश पूर्णरूप से उपलब्ध हुआ तब और किसी प्रकार की द्विधा नहीं रही वस्तुत विचार करने से देखा जाता है कि ब्रह्मचारी जी आजीवन भगवत्-शक्ति के निर्देश व प्रेरणा से ही चलते थे। भागवती निर्देश के विना वे कुछ नहीं करते थे। लेखक को स्मरण है कि ई० सन् १६२४ में जब लेखक तथा अन्य कई व्यक्तियों ने आचार्यदेव से सन्यास ग्रहण किया उस समय माघी-पूर्णिमा तिथि पर जब प्रत्येक ने उनके श्रीचरणों में उपस्थित होकर मन्त्र-ग्रहण किया तब मन्त्रदान के पूर्व उन्होंने लेखक से कहा था —"आज यदि नाथजी (आचार्यदेव के गुरु) जिनके आदेश से चन्द्र-सूर्य तक अपनी कक्षा छोड़ सकते हैं—उपस्थित होते तो, मैं जो कुछ करने जा रहा हूँ –सम्भवतः उसे वे भी समझ पाते या नहीं इसमें संदेह है।"

उनके इस कथन पर यथा स्थान पर विशेष प्रकाश डाला जायेगा। इसके उल्लेख करने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि ब्रह्मचारी जी अर्न्तयामी की प्रेरणा से ही चलते थे। "क्या मनुष्य गुरु बन सकता है? यह प्रश्न शंकर, बुद्ध, चैतन्य जैसे भगवत्-विभूतिसम्पन्न आचार्य या अवतार पुरुष ही कर सकते हैं। ब्रह्मचारी विनोद भी इसी श्रेणी के अद्भुत-शक्ति,

सम्पन्न साधक थे । योग–शास्त्र में ऐसे अधिकारी को "अधिमात्रतम' कहा गया है। शास्त्र के अनुसार ऐसे साधक छः मास के अन्दर ही योग मार्ग में सिद्धि प्राप्त करते हैं। साधारण लोगों की भाँति उन्हें गुरु की आवश्यकता नहीं होती। उनके जीवन यन्त्र के माध्यम से विश्व-नियन्ता के उद्देश्य की सिद्धि का जो इंगित दिन प्रति-दिन स्फुरित हो रहा था—उसी के लिये वे व्याकुल होने लगे।

उत्तरकाल में जब आचार्यरूप में वे जाति के सम्मुख उपस्थित हुये तब सर्व साधारण को आश्वासन प्रदान करते हुये उन्होंने कहा— "एक व्यक्ति जलाशय प्रस्तुत करता है लाखों, मनुष्य वहाँ से अपनी तृष्णा को तृप्त करते हैं। वैसे ही एक एक युग में एक एक महामानव आकर उस युग के लिये अपनी तपः शक्ति संचित कर जाते हैं। करोड़ों नरनारी उस तपःशक्ति से सहायता प्राप्त करते हैं। इस युग के लिये मैंने ही तपस्या की है, ऐसी कठोर तपस्या मनुष्य के लिये सम्भव नहीं हो सकती। मेरे आदेश, निर्देश व उपदेश का पालन करने से ही उन लोगों को उस तपःशक्ति को सहायता प्राप्त होगी। बुद्ध, शँकर, चैतन्य ने भी एक एक युग के पतित, तापित मनुष्य के लिये तपस्या की थी।"

ई० सन् १८१३ के अक्टूबर मास में ब्रह्मचारी जी गोरखपुर मठ के अध्यक्ष तथा नाथ सम्प्रदाय के नेता योगिराज बाबा गम्भीरनाथ जी के पास

गये। वे एक अलौकिक योगैश्वर्यसम्पन्न महात्मा थे। दीक्षा प्रदान करने से पूर्व नाथ जी ने ब्रह्मचारी जी को कहा—.

"तुम्हारी साधना तो पूर्ण हो चुकी है। दीक्षा का क्या प्रयोजन"

तत्पश्चात् अपनी योग दृष्टि से ब्रह्मचारी जी के भगवत् निर्दिष्ट भविष्य कर्म-लीला को प्रत्यक्ष कर परम स्नेहपूर्वक दीक्षा प्रदान की।

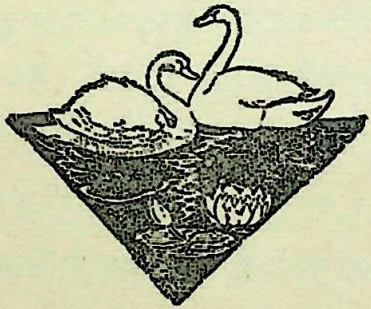

समाधि व सिद्धि

दीक्षा के उपरान्त ही उनमें विलक्षण परिवर्तन हुआ । वहाँ पर वे अधिक समय तक निर्जन स्थानों व जंगलों में समाधिस्थ रहते थे । नाथ जी किसी के द्वारा उन्हें बुलवाकर कुछ खिला पिला देते थे क्रमशः उनके लिये शरीर का ध्यान रखना असम्भव सा हो गया वहाँ से प्रत्यावर्त्तन कर वे काशी में असीघाट पर एक खाली मकान में रहने लगे। इस समय उन्हें आवश्यक सामग्री तथा भोजनादि कहाँ से प्राप्त होता था इसका पता नहीं चलता। दिन-रात वे अर्न्तदशा या अर्द्धबाह्य दशा में रहते थे । उनके योगक्षेम का निर्वाह विचित्र प्रकार से ही चलता था। आचार्यदेव से सुना है कि उस समय नाथ जी अलौकिक शरीर में ब्रह्मचारी जी के पास आते थे। ब्रह्मचारी जी के स्मरणमात्र से ही वे आ जाते थे। नाथ जी के प्रसंग में आचार्यदेव कहते थे—"नाथ जी जैसे योगैश्वर्यशाली महापुरुष कहाँ हैं ? उनके आदेश से चन्द्र-सूर्य भी कक्षच्युत हो सकते हैं। उन्हें कौन पहचानता है, वे साधारण मनुष्य के समान रहते थे।" यह बात भी सत्य है। समकक्ष न होने से कौन किसे पहिचान सकता है ?

ब्रह्मचारी जी के आकर्षण से नाथ जी क्यों आते थे ? ब्रह्मचारी जी क्यों उन्हें बुलाते थे ? ब्रह्मचारी जी की आकांक्षा से नाथ जी उनको योगैश्वर्य दिखाकर उनमें वह शक्ति-संचारित करने के लिये ही वे आते थे । क्यों कि

ब्रह्मचारी जी को देखकर वे समझ गये थे कि–उनके पास श्रेष्ठ अधिकारी आया है। जिसमें योग शक्ति सँचारित करने से उससे देश जाति तथा संसार का महान कल्याण साधित होगा।

विचार करने से विदित होता है कि—जब कभी भगवत् शक्ति के आधार स्वरूप महान पुरुष लोक-कल्याण के लिये आते हैं उस समय चारों ओर से भगवत् शक्तियाँ आकर उनमें समा जाती हैं। श्री रामचन्द्र जब राक्षसों का नाशकर संसार को धर्मग्लानि से मुक्त करने के लिये आये—उस समय देखा जाता है कि वशिष्ठ, विश्वामित्र, परशुराम, भरद्वाज, मातंग शरभंग, सुतीक्षण, अगस्त्य इत्यादि महायोगी व तपःशक्ति शाली ऋषि, महर्षिगण ने स्वार्जित तपःशक्ति को श्री रामचन्द्र में विलीन कर दिया। विभिन्न साधन पथ के महापुरुषों ने परमहंस श्री रामकृष्ण में अपनी अनुभूति व शक्ति संचार किया था। महावीर हनुमान जन्म के साथ ही जब सूर्य को पक्का फल समझकर लेने के लिये गये तब देवराज इन्द्र ने उन पर वज्र का प्रयोग किया उससे वे चेतना शून्य होकर भूपतित हुये। तब मुख्य देवगणों ने उनको आशीर्वाद देकर अपनी अपनी शक्ति उनमें सँचारित की थी।

काशीधाम में रहते हुये एकदा ब्रह्मचारी जी भयंकर रूप से ज्वराक्रान्त हुये, उस समय उन्हें इतना ताप चढ़ा कि पृथ्वी पर बैठने या शयन करने से वहाँ की भूमि जलकर काली पड़ गई, उस ज्वर से वे चेतनाशून्य हो गये थे। उस समय के प्रसंग में आचार्यदेव ने एकदा कहा था—'उस समय एक वृद्धा आकर अपने पुत्र की भाँति मेरी सेवा करती थी। उसके न होने से उस समय शरीर की रक्षा होना किसी प्रकार से सम्भव नहीं था"। वह वृद्धा कौन थी ? यह प्रश्न करने का साहस कभी किसी को नहीं हुआ परन्तु इसमें सन्देह नहीं

कि वह स्वयं जगत्-नियन्त्री महामाया ही उस वृद्धा के रूप में जगत-कल्याण के लिये लीला विग्रहधारी अपनी सन्तान के देहयन्त्र की रक्षा करती थीं।

प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मचारी का यह ताप क्या था और क्यों आया ? इस विषय में उनसे कभी भी किसी ने चर्चा नहीं की। परन्तु उनके उस समय की अवस्था का शास्त्र के साथ विचार करने से प्रतीत होता है-वह साधारण ज्वर नहीं था, प्रत्युत प्रबल आध्यात्मिक शक्ति के प्रचण्ड प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न ताप था। आध्यात्मिक शक्ति की प्रबल तरंग उत्पन्न होने से उसको सहन करना असम्भव हो जाता है। सर्वनियन्ता के उद्देश्य से दैवी महापुरुष उस प्रचण्ड ताप को सहन तो कर लेते हैं परन्तु उससे शरीर क्लिष्ट हो जाता है। साधारण मनुष्य जब समाधि में अवस्थित होता है तब उसका शरीर शुष्क पत्र की भाँति जीर्ण होकर इक्कीस दिन में नष्ट हो जाता है। अल्प समय तक इसी प्रकार प्रतिनियत समाहित रहने से ब्रह्मचारी जी का शरीर तथा मन क्रमशः सहनशील हो गया, वे साधारण स्थिति में आने लगे। अन्त में उन्होंने नाथजी के निर्देश से बाजितपुर प्रत्यावर्त्तन किया।

इस समय एक विशेष उल्लेखनीय घटना हुई। जिसका परिणाम आगे चलकर बहुत ही सुफलदायी हुआ। माता व भ्राता के कहने से वे स्वर्गीय पिता के पिण्डदान के लिये गया धाम गये। स्टेशन पर उतरते ही पण्डों के चर उनको लेकर अपनी अपनी ओर ले जाने का प्रयास करने लगे। उनके इस अशिष्ट व्यवहार का प्रतिवाद करते ही वे सब एकसाथ उन पर आक्रमण करने की प्रस्तुति करने लगे। इस पर ब्रह्मचारी जी रुद्रमूर्ति धारणकर उन लोगों को दण्ड देने के लिये उद्यत हो गये। उनकी इस भयंकर मूर्ति को देखकर पण्डे लोग दब गये। इस प्रसंग में उन्हों ने कहा था-"उसी दिन से गयातीर्थ के संस्कार करने का संकल्प मेरे हृदय में जाग्रत हुआ था।'

काशी से लौटकर ब्रह्मचारी जी बाजितपुर आकर ठहरे। दिन में अपने कुटीर में और रात्रि में गृह के निकटवर्ती नदी तट पर ध्यान में तल्लीन रहते थे। पूर्वोक्त प्रधान शिक्षक श्री वीरेन्द्रबाबू ने इस समय का विवरण देते हुये लिखा है–"ब्राह्म मुहूर्त्त में स्नान करके आसन पर उपविष्ट होते थे, द्विप्रहर को माता या भगिनी आकर कुछ आहारादि करा जाती थीं तत्पश्चात् वे पुनः ध्यानमग्न हो जाते थे। नौ दिन तक इसी प्रकार एक ही आसन पर अविचल रूप से विराजमान रहने से, शरीर प्रबल ज्वर से आक्रान्त हुआ। और वे अस्वस्थ हो पड़े।"

ई० सन् १९१४ व १९१५ यह दो वर्ष वे अपने भाव में समाहित रहे। अनन्तर वे एकबार चट्टग्राम की ओर गये थे। इस भ्रमण का उद्देश्य क्या था यह प्रश्न किसी ने उनसे नहीं किया। सुना जाता है कि वे चन्द्रनाथ व सीताकुण्ड का दर्शन कर जगतपुर में स्वामी पूर्णानन्द जी के आश्रम में भी गये थे, और दो एक स्थान में जाकर वे पुनः बाजितपुर लौट आये।

ब्रह्मचारी जी के पितृगृह के सम्मुख ही छोटी सी नदी के दूसरे तट पर छोटे छोटे वृक्ष व लतागुल्मों से आच्छादित एक सघन दुर्गम स्थान था। यह स्थान नदी के अपर तट पर होने के कारण ग्राम से कुछ पृथक भी था। अतः जैसा दुर्गम वैसा ही भयंकर भी था। यहीं पर ग्राम की अधिष्ठात्री देवी श्री श्री वनदुर्गा का पीठस्थान है स्थानीय हिन्दूगण यहाँ देवी की पूजा चढ़ाने आते थे। साधारणतः उधर कोई नहीं जाता था। स्थान स्वल्प था तथा असंख्य वृक्षलताओं के समावेश से भयंकर होने पर भी निर्जनता प्रिय साधक के लिये बहुत ही आकर्षक था।

ब्रह्मचारीजी का रात्रिसाधनक्षेत्र श्मशान इसके पश्चिमकी ओर था उपरोक्त स्थान नीचा होने के कारण वर्षा ऋतुमें वहाँ जल एकत्रित हो जाता था।

ग्रीष्म अथवा शीतकाल में अधिक समय वे उसी स्थान में समाहित रहते थे। ई० सन १६१५ व १६१६ में भगवत् प्रेरणा से जब उनके हृदय में मानव कल्याण के महाभाव व महाशक्ति के प्रकाश—विकासार्थ महासाधना में समाहित होने की इच्छा हुई तब उनका ध्यान इस स्थान की ओर गया। उन्होंने अनुभव किया कि यह स्थान उनकी भविष्य-लीला का सिद्ध पीठ होगा। बुद्धदेव के जीवन में देखा जाता है-६ वर्ष की कठोर तपस्या के उपरान्त जब उन्होंने अनुभव किया कि "बोधिलाभ" का समय आसन्न है तब इतस्ततः भ्रमण करते हुये गयाधाम में बोधि वृक्ष के नीचे सिद्धासन लगाकर ध्यान समाहित होकर निर्वाण प्राप्त किया।

ई० सन् १६१७ के फरवरी मास की माघोपूर्णिमा को पुण्य तिथि को सर्व प्रथम उत्सव का अनुष्ठान हुआ। यह माघ पूर्णिमा तिथि युगान्तकारी महापुरुष के जन्म दिवसके कारण जैसे प्रसिद्ध है। वैसे ही उनके सिद्धिलाभ की शुभ तिथि रूप में यह और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गई। ई० सन् १६१६ की पुण्यमयी माघ पूर्णिमा तिथि के दिन उन्होंने सिद्धि लाभ किया माघ मास की पुण्य मयी पूर्णिमा तिथि है आकाश में पूर्णचन्द्र विराजमान है। दिगन्तप्रसारी ज्योत्स्ना से अवनी व अम्बर आलोकित है। अहोरात्रि हरिनाम, भजन कीर्तन चल रहा है। ब्रह्मचारी जी एक कदम्ब वृक्ष के नीचे समाधिस्थ हैं। उपस्थित जन समूह में आनन्द का प्रवाह चल रहा है।ब्रह्मचारी जी के मानस पट पर मानव कल्याण का भविष्य "धर्म चक्र व कर्म चक्र" का प्रोज्ज्वल चित्र जाग्रत हुआ। तथा भगवत् वाणी भी ध्वनित हुई। दूसरे दिन समाधि से अवतरण कर अर्द्धबाह्य दशा में उनके श्रीमुख से प्रथम अमृतमयी आश्वासन वाणी का स्फुरण हुआ-"यह युग महाजागरण का युग है। यह युग महामिलन का युग है। यह युग महासमन्वय का युग है। यह युग महामुक्ति का युग है"।

जीवन के उत्तर काल में सन्यासी शिष्यों को उपदेश करते हुये वे माघ पूर्णिमा के महत्व के विषय में लिखते हैं—"आगामी माघी-पूर्णिमा की तिथि पर तप.शक्ति व तपस्तेज के पूर्ण विकास के समय--संघनेता का तप:प्रभाव व शुभदृष्ट ग्रहण कर सकने के लिये आग्रह और व्याकुलता के साथ उपस्थित होने के लिये प्रयत्न करना।"

—संघगीता

एक अन्य पत्र में उन्होंने लिखा है–"आगामी माघी पूर्णिमा के दिन तप:शक्ति, तपस्तेज, तप: प्रभाव के पूर्ण विकास के समय मेरे समीप उपस्थित होकर पूर्ण तपस्तेज के विकास के समय मेरो शुभ दृष्टि, शुभाशीर्वाद व तप:प्रभाव ग्रहण कर सको–प्राणमन में ऐसी आकांक्षा, आकुलता, व्याकुलता लेकर आने के लिये प्रस्तुत होओ।"

—संघगीता

ब्रह्मचारी जी भगवत् प्रेरित आचार्य थे। वे ब्रह्मर्षि शुकदेव, आचार्य-शङ्कर की भाँति नित्य शुद्ध, नित्य मुक्त माया लवलेश से रहित थे। प्रश्न यह उठ सकता है कि ऐसे अलौकिक शक्ति के आधार स्वरूप जो हैं उन्हें तपश्चर्या की क्या आवश्यकता ? इसकी विस्तृत आलोचना शास्त्र में हैं - उसमें से दो चार सरल तथ्य यहाँ पर उध्दृत करते हैं।

१—एक मनुष्य जलाशय प्रस्तुत करवाता है, कोटि-कोटि व्यक्ति उसमें जलपान कर परितृप्त होते हैं। युग परित्राता आचार्य अपने जीवन में कठोर साधना व तपस्या से करोड़ों मनुष्यों की शान्ति व मुक्ति का अमृत रस संचित कर जाते हैं।

२—आचार्य एवं अवतारी महापुरुष गण स्वयं आचरण करके जीव को शिक्षा देते हैं। धर्म की ग्लानि एवं अधर्म का अभ्युत्थान होने से युग प्रवर्त्तक आचार्य का आविभाव होता है। आचार्यगण लोक-संग्रह के लिये युग का आदर्श व धर्म आचरण कर मानव को उसमार्ग पर प्रवर्त्तन करते हैं।

३—भगवत्-प्रेरित आचार्य में भागवत् संकल्प का बीज रहता है। युग के उपयोगी भाव-आदर्श व साधना से वह अंरिकुति व विकसित होता है।

एक और प्रश्न उठ सकता है। माघी पूर्णिमा के दिन ही उनमें भागवती शक्ति का पूर्ण प्रकाश तथा दूसरे संमय आंशिक विकास क्यों होता था। मनुष्य की बुद्धि इनसब गहन तत्त्वों में कहाँ तक प्रवेश कर सकती है? भगवान श्रीकृष्ण के जीवन में देखा जाता है—कुरुक्षेत्र संग्राम के उपरान्त जब अर्जुन ने गीता का उपदेश और विश्वरूप दर्शन का प्रसंग उठाया उसपर उन्होंने कहा था—"अर्जुन! उस समय मैंने योगस्थ होकर जो कुछ तुमको कहा था और किया था वह अभी संभव नहीं है।" इससे प्रतीत होता है भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन में भी किसी समय विशेष प्रकाश और किसी समय आंशिक प्रकाश प्रगट होता था। अन्य आवश्यक प्रसंगों में भी उनके जीवन में महाप्रकाश देखा जाता है। रासलीला के समय, कंस निधन के समय, पाण्डवों के राजसूय यज्ञ में, दुर्योधन की संधि-सभा में, दुर्वासा के अभिशाप से पाण्डवों की रक्षा के समय। महाप्रभु चैतन्य के जीवन में भी इस महाप्रकाश की लीला पाई जाती है। ब्रह्मचारी जी के जीवन में भी माघी पूर्णिमा के समय नियमित रूप से महाप्रकाश होता था। अन्य अवसरों पर भी कभी कभी यह महाप्रकाश उनमें प्रकाशित होता था। इसका वर्णन प्रसंगानुसार आगे आयेगा।

आचार्यभाव का उन्मेष व क्रम विकास

यह कहना निरर्थक है कि सर्व नियन्ता के विशेष विधान से युग प्रवर्तक आचार्यरूप में जिनका अविर्भाव होता है उनमें जन्म से ही स्वाभाविक आचार्यत्व निहित होता है। ई० सन् १९११ व १९१२ में ही ब्रह्मचारीजी स्थानीय युवकों के नेता के आसन पर प्रतिष्ठित हो गये थे। उस समय उनके सम्पर्क में अनेक बालक व युवक आ गये थे। प्रधान शिक्षक श्रीयुत वीरेन्द्र बाबू के कथनानुसार यह ज्ञात होता है कि ई०-सन् १९१३ में ब्रह्मचारी के नेतृत्व में युवकों का एक दल प्रस्तुत हो गया था। वे उन युवकों की सहायता से मुष्ठिभिक्षा-माँग कर दीन-दुखियों की सहायता, पीड़ितों की शुश्रूषा तथा आपद्काल में ग्राम वासियों की सेवा इत्यादि का कार्य करते थे। इसके अतिरिक्त समाज की वर्त्तमान दुर्नीति तथा अधोगति से किशोर बालकों व युवकों को कैसे सुरक्षित रखा जाय इसकी उत्कट चिन्ता उनके हृदय को विकल कर रही थी।

ब्रह्मचारी विनोद के ब्रह्मचर्य साधना की प्रशंसा चारो ओर प्रसारित होने लगी। दूर-दूर के गाँवों से मधुलोलुप भ्रमरों की भाँति बालकों, युवकों का समूह उनके पास आने लगा। अभिभावकों के भय से कोई-कोई रात्रि को भी आते थे। शनिवार, रविवार को बहुत भीड़ हो जाती थी। कभी कभी वे स्वयं नौका खेकर उन लोगों को घर पहुँचाने जाते थे। ब्रह्मचारीजी के स्नेह

सहानुभूति, अहैतुकी करुणा और अलौकिक आकर्षण से शिक्षार्थियों के हृदय पट में नवीन आनन्दद्वार उन्मुक्त हो गया था। निम्नलिखित घटना से विदित होगा कि वह आकर्षण कितना प्रबल था—

इस समय एक बालक उसी ग्राम के विद्यालय में पढ़ता था। बादमें उसने त्यागव्रत स्वीकार कर ब्रह्मचारी जी के कल्याणकार्य में योगदान किया। यह बालक उनका विशेष प्रिय था। उनके निकट अत्यधिक यातायात करता था। अभिभावकों के कठोर शासन होने पर भी उसके लिये उसका पालन करना असम्भव था। अभिभावकगण उसको कठोररूप से दण्ड देत थे। उसको प्रचण्ड शीतकाल में तालाब के जल में डुबोकर पकड़ रखते थे—और कहते थे—'वचन दो कि ब्रह्मचारी के पास नहीं जाऊँगा—नहीं तो नहीं छोड़ेंगे"। बालक शीत से जड़ीभूत हो जाता था तथापि वह गुरुजनों के शासन को नहीं स्वीकार करता था। ब्रह्मचारी जी का अलौकिक आकर्षण ही उसको सब प्रकार के दुःख-कष्ट अत्याचार को सहन करने की शक्ति प्रदान करता था।

ई० सन् १६१० तथा १६११ में एक और बालक उनका प्रिय बन गया था। यह बालक बाजितपुर में रहकर स्थानीय विद्यालय में अध्ययन करता था ब्रह्मचारी जी को यह प्रतिभात हुआ कि यह बालक उनकी भावी लीला का सहचर हैं। अतः अपने भाव और आदर्श के अनुसार उसका जीवन गठन करने लगे सन्यासी शिष्यों में यही सबसे प्रथम उनके सम्पर्कमें आये थे। वे ही वर्त्तमान संघाध्यक्ष—श्रीमत् स्वामी सच्चिदानन्द जी महराज हैं।

इस समय ग्रामों में भजन कीर्त्तन की बहुत ही प्रथा थी। सन्ध्या होते ही गाँवो में मृदंग, करताल के साथ भजनकीर्त्तन आरम्भ हो जाता था। इसमें उच्च तथा नींच सभी वर्ग के लोग बड़े उत्साह से भाग लेते थे। भजन करने वालों को सभी अत्यधिक सम्मान करते थे। काल के मलिन प्रभाव से वह सब

दृश्य: क्रमशः विलुप्त होते जा रहे हैं। सन्ध्या होते ही आजकल गाँवों में निस्तब्धता छा जाती है। मानो कि श्मशान की विकराल निस्संगता चारो ओर छागई हो। किसी किसी गाँव में कहीं कहीं पर ताश, सतरंज, जुआ इत्यादि में व्यस्त लोग अट्टहास व कोलाहल करते हुये सुनाई पड़ते हैं। मानों श्मशान के शृगालों की भाँति भयंकर चीत्कार कर रहे हों। यह कलरव अत्यन्त अशांतिमय प्रतीत होता है। तथा कथित शिक्षित व सभ्य लोग भजन-कीर्त्तन को सभ्यता के विरुद्ध मानकर अपमानजनक समझते हैं।

भजन कीर्त्तन ब्रह्मचारी जी को अत्यन्त प्रिय था। साधारणतया वे स्वयं कीर्त्तन नहीं करते थे। भजन के स्थान पर मूर्त्तिवत बैठ जाते थे। प्रधान शिक्षक श्रीयुत वीरेन्द्रबाबू को भी भजन प्रिय था। विनोद की अनुपस्थिति में कीर्तन-भजन की शोभा अपूर्ण रह जाती थी। इस भजन कीर्त्तन के माध्यम से ब्रह्मचारी जी संगठन कार्य की नींव डाल रहे थे। अनेक भक्त, बालक, युवक इस प्रसंग में उनके सम्पर्क में आकर उनके काम में सहायता करते थे। उनकी लीला के सहचर इसी समय से उनके निकट सम्बन्ध में आने लगे।

इस समय क्रान्तिकारी दल के अनेक युवक, बालक उनके सम्पर्क में आये। वे सब ब्रह्मचारी जी को सखा, मित्र व ज्येष्ठ भ्राता की भाँति अपना परमात्मीय मानकर उनसे घनिष्ठ संबंध रखते थे। ब्रह्मचारी जी भी अत्यन्त प्रेम व सहानुभूति पूर्वक उन लोगों की सहायता करते थे। तथा सर्व प्रकार से उन लोगों के चरित्र गठन में सहायता करते थे। उत्तरकाल में कार्यवश उन लोगों से दूर चले जाने पर भी आचार्यदेव उन लोगों को स्मरण करते हुये कहते थे— 'यह लोग पहले हमारे कार्य में सहायक थे"। उन लोगों के प्रति आचार्य देव का भाव सदा ही प्रेमपूर्ण रहा।

ब्रह्मचारी जी के व्यक्तित्व में यह विशेषता थी कि उनके संस्पर्श में आते ही बालक, युवक, प्रौढ़ व वृद्ध सभी उनके प्रिय बन जाते थे । यथा-शक्ति सभी उनके कार्य में सहायता करते थे । सभी मत और पंथ के लोग उनके कार्य में हाथ बटाते थे । सारे जीवन भर उनका यह संबन्ध चलता रहा तथा वे लोग भी कार्य में यथाशक्ति सहायता करते रहे । उनमें किसी प्रकार के जाति सम्प्रदाय या मतवाद का भेद नहीं था। विषमता और भाव पार्थक्य के बीच भी वे मिलन का सूत्र स्थापित करते थे, यही उनकी विशेषता थी । परवर्ती काल में उन्होंने अपने इसी तत्व को विराट्रूप में प्रकाशित किया ।

आचार्यभाव का विकास

व

संगठन कार्य का श्री गणेश

ब्रह्मचारी विनोद के बाल्यजीवन से ही इस तत्त्व का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है कि वे जन्म से ही आचार्य थे। परन्तु सर्वनियन्ता के विशेष विधान से जिस दिन उनके शरीर तथा मन में भागवती शक्ति का विशेष प्रकाश हुआ तथा युगाचार्य के आसन पर आसीन हुये, उसी सिद्धिलाभ तथा आश्रम स्थापना की पुण्य तिथि व मुहूर्त्त से वे बाह्यतः भी आचार्य-रूप में आचार-व्यवहार करने लगे। आश्रम स्थापना के पश्चात् वे नियमित-रूप से भजन कीर्तन के अनुरागी बालक व युवकों को आकर्षित कर उनके जीवन को अपने अभीष्ट भाव से गठन करने का आदेश उपदेश देने लगे। एक ओर मुष्टी भिक्षा माँग कर सेवा कार्य चलने लगा। दूसरी ओर कर्मीगण तथा बालक, युवकों को संयम, ब्रह्मचर्य, वैराग्य प्रभृति का उपदेश कर साधन अनुष्ठान द्वारा शिक्षादान करते हुये श्रेष्ठतम दायित्व के लिये प्रस्तुत करने लगे। इस समय शत-शत युवक उनके सम्पर्क में आये थे। यद्यपि उनमें से अल्प संख्यक बालकों ने ही त्यागव्रत स्वीकार कर उनके धर्म व कर्म चक्र रूपी सेवाकार्य में सहायक हुये, किन्तु त्यागी न बनने पर भी उत्तरकाल में उनमें से अधिकांश जन विभिन्न रूप से उनके कार्य में सहायता व सहयोगिता करते थे।

इस समय ब्रह्मचारी जी महाराज अपने उत्तर साधकों को किस प्रकार प्रस्तुत कर रहे थे। एक अनुरागी बालक की दिनलिपि से कुछ उद्धरण नीचे दिये जाते हैं—इससे समझने में सुगमता होगी। वैसे तो नित्य ही थोड़े बहुत लोग उनके पास आते थे, परन्तु शनीवार व रवीवार के दिन अनेक बालक-युवक उनके दर्शनार्थ आते थे। ब्रह्मचारी जी सबको बड़े आदर व प्रेम के साथ उपदेश, निर्देश देते दे। परन्तु उनमें से जो लोग भविष्य में त्यागी-जीवन ग्रहणकर आत्म समर्पण करने वाले थे, उनको प्रथम साक्षात्कार से ही वे पहचान लेते थे तथा दूसरों से पृथक उपदेशादि देकर उन्नततर जीवन के लिये प्रस्तुत करते थे।

श्री श्री युगाचार्य संग व उपदेशामृत–बैशाख ई० सन् १८१७।

"श्री भगवान का जो नाम प्रिय लगता हो उसके आगे ॐकार जोड़कर जप करना। साथ-साथ उस मूर्ति का भी ध्यान करना। रात्रि में उठकर जप ध्यान करना। ध्यान करते-करते निद्रा व तन्द्रा आये तो अल्प समय के लिये बद्ध पद्मासन कर लेना, उससे निद्रा-आलस्य जड़ता दूर होगी।"

आसन के सम्मुख श्वेत या हरित वर्ण का गोल कागज लगाकर, बद्धपद्मासन में बैठकर अपलक दृष्टि से उसकी ओर देखना। इस समय हिलने-डुलने से क्षति होती है। इस पर विशेष ध्यान रखना। इस प्रकार छ दिन त्राटक के साधना का अभ्यास करना।

निष्प्रयोजन वार्त्तालाप न करना। निरर्थक वाक्य-उच्चारण से मन चंचल हो उठता है और शक्ति का अपव्यय होता है। नियम रखकर बोलना चाहिये, प्रातकाल उठकर संकल्प कर लेना कि आज इतना ही बोलेंगे-

इससे अधिक नहीं बोलेंगे। कभी-कभी मौन धारण करना-इससे मानसिक शक्ति की वृद्धि होती है।

"प्रतिदिन अल्प समय के लिये मृत्युचिन्ता करना।" तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? इस संसार में कितने दिन रहना है ? तुम्हारे इस शरीर, जीवन, यौवन का क्या परिणाम है ? प्रतिदिन इस प्रकार अपने शरीर व दृश्य जगत् की अनित्यता के विषय में विचार कर वैराग्य को जाग्रत करना। इससे अवान्तर चिंता भावना या किसी प्रकार का पाप प्रलोभन तुम्हारे संस्पर्श में नहीं आ सकेगा।

× × × × ×

एक दिन रात्रि को हम लोग आचार्य देव के साधन कुटीर की ओर जारहे थे। वहाँ से कीर्तन की ध्वनि आरही थी— मानो भक्तिरस का प्रवाह उमड़ रहा हो।

साधन कुटीर के एक ओर गैरिक वस्त्र से आवेष्टित एक कोठरी है। वहाँ अजिनासन के सम्मुख चौकी पर तथा दीवार पर विभिन्न देव-देवीं तथा महापुरुषों के चित्र लगे हैं। दूसरी ओर ईंटों पर लकड़ी का एक तख्ता है। सब ऋतुओं में एक ही प्रकार की व्यवस्था है। एक ही चद्दर है। पार्श्व में ही एक बड़ा कक्ष है; यहाँ पर भजन कीर्तन होता है। आचार्य देव सब लोगों से वार्तालाप करते हैं और उपदेश प्रदान करते हैं। दो चार पुस्तकें इधर-उधर रखी हैं। व्यायाम के दो मुद्गर भी हैं। इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हम लोगों ने कक्ष में प्रवेश किया और बैठे। रात्रि के ११ ग्यारह बजे तक कीर्तन पूर्ण भावावेश में होता रहा, तदुपरान्त आचार्य देव भावजगत से वास्तव जगत में आये। स्कूल-कालेज के विद्यार्थियों की संख्या

बहुत ही अधिक थी। भजन-कीर्त्तन के पश्चात् सबके चले जाने पर मुझको अपने निकट बुलाकर स्नेह सिक्त स्वर में कहने लगे:

"जिस प्रकार साधन लेकर चलने को कहा है उसी के अनुसार चलते रहना। अपनेअन्तर में सर्वदा स्वातन्त्र्यबोध जाग्रत रखना चाहिये। जीवन का लक्ष्य क्या है? गन्तव्य स्थान कहाँ हैं? इस पर विचार करना। सर्वदा स्मरण रखना तुम्हारे जीवन का एक महान उद्देश्य है? गड्डालिका प्रवाह में साधारण व्यक्ति की भाँति जीवन व्यतीत करने के लिये तुम लोग नहीं आये हो। तुम लोगों के जीवन से विश्वनियन्ता का महान उद्देश्य साधित होगा। इस लिये विशेष यत्नपूर्वक अपने जीवन को प्रस्तुत करना। सर्वदा महान आदर्श के विषय में चिन्तन, मनन करते रहने से जीवन गठन की चेष्ठा प्रबलतर होती जायगी, कभी कभी यहाँ आना, योग्य सहायता प्राप्त होगी।"

ई० सन् १८१८—"अनेक दिनों से दर्शन की तीव्र अभिलाषा है। हृदय अनेक संशय-समस्याओं से आक्रान्त है। समाधान के लिये उत्कण्ठा हो रही है। विद्यालय की छुट्टी के पश्चात् आचार्यदेव के निकट गया। अत्यन्त प्रेम पूर्वक दो चार प्रश्न करके कहना प्रारम्भ किया—

"तुम लोग मित्रतावश अथवा तो हास-परिहास में भी किसी के साथ एक पात्र में भोजन न करना। किसी का उच्छिष्ट न खाना। भगवान को निवेदन कर प्रसादरूप में आहार ग्रहण करना, तब आहार में संयम प्रतिष्ठित होगा। शरीर मन स्वस्थ, शान्त एवं संयत होगा।

किसी के साथ एक ही शय्या पर मत सोना। कभी असुविधा होने पर चल फिरकर या बैठ कर रात्रि व्यतीत करना परन्तु किसी की शय्या पर

कदापि न सोना । किसी स्त्री के मुख की ओर दृष्टिपात करते हुये कभी सम्भाषण न करना । दृष्टि को नीचे की ओर रखते हुये वार्त्तालाप करना : इस प्रकार दृष्टिसंयम का अभ्यास करने से अनेक पाप प्रलोभनों से रक्षा हो सकती है । मनुष्य जो वस्तु या व्यक्ति को देखता है, अज्ञात में भी उसकी प्रतिच्छवि उसके मन पर अंकित हो जाती है । दृष्टिसयम द्वारा विषय के संस्पर्श से अपनी रक्षा कर साधकगण भोगाकांक्षा के मूल को नष्ट कर सकते हैं। छोटे पौधों को जैसे घेरकर रखना पड़ता है, वैसे ही शिशुमन को भी सयम के घेरे में न रखने से प्रबल-प्रवृत्तियो के साथ संग्राम करने का सामर्थ्य प्राप्त नहीं होता । विद्यर्थी जीवन में अन्ततः दश घन्टे पाठ अभ्यास करना चाहिये ।"

ई० सन् १९५९—"एक दिन अपरान्ह में अनेक सशय सन्देह लेकर साधन कुटीर में प्रवेश किया । बहुत कुछ जिज्ञासा रहती है । परन्तु परिप्रश्नद्वारा समाधान कराने का साहस नहीं होता, तथा इसकी आवश्यकता भी अनुभव नहीं करता । अन्तर की समस्याओं को आचार्यदेव स्वयं ही समाधान कर देते हैं । इसलिये अन्तर में दृढ़ विश्वास हो गया है कि वे सर्वदर्शी तथा अन्तर्यामी हैं । हमारी मनोदशा को वे जानते हैं या नहीं यह प्रश्न कभी उठा ही नहीं । वे सभी कुछ जानते हैं यही दृढ़ विश्वास है । आचार्यदेव सप्रेम कहने लगे—

"आलस्य ही साधना का परम शत्रु है, सबसे बड़ी बाधा है । उसे कदापि प्रश्रय न देना । आलस्य, निद्रा, जड़ता व दीर्घ सूत्रता को एक बार प्रश्रय देने से साधनशक्ति जाती रहती है ।.....आलस्य को दूर हटाना चाहिये । साधन-भजन करने का आग्रह सर्वदा अटूट बनाये रखने का प्रयास करना चाहिये । नहीं तो उन्नति की आशा नहीं रहती..... ।साधन जीवन की

प्रथन अवस्था में जो तीव्रता रहती है, तनिक भी आलस्य करने से या असर्तक रहने से वह नष्ट हो जाती है, और शिथिलता का भाव आजाता है। उत्साह तथा आग्रह का सर्वथा अभाव हो जाता ह। साधना के नियम, संयम अत्यन्त नीरस एवं कटु प्रतीत होने लगते हैं। ऐसे समय में विशेष विचार पूर्वक बुद्धि का आश्रय लेकर साधन मार्ग पर चलते हुये नियम-निष्ठा को अटूट रखना चाहिये। कुछ काल तक सातत्य एवं तत्परता रखने से पुनः स्वाभाविक आनन्द आ जाता है। धैर्य, स्थैर्य, सहिष्णुता ही महाशक्ति है; उद्यम, उत्साह, अध्यवसाय ही महामित्र हैं; दृढ़ संकल्प और अटूट प्रतिज्ञा रखनी चाहिये।

× × × × ×

शीतकाल में शय्या से उठने की इच्छा नहीं होती। एक दिन मुझे भी ऐसा लगा था। बस ! उसी दिन से प्रतिज्ञा ली कि अब से कुछ नहीं ओढ़ूंगा चार-पाँच हजार मुद्गर भाँज कर शरीर को गरम कर लेता था। उसीदिन से विना कुछ ओढ़े ही सो जाता था। शीत क्या वस्तु है इसका अनुभव ही पुनः कभी नहीं हुआ।

× × × × × चार घन्टे से अधिक न सोना। जो जितना ही निद्रा को प्रश्रय देता है, उसे उतना ही आलस्य आ घेरता है। अधिक निद्रा से वीर्य नष्ट होता है। कर्म शक्ति का क्षयहोता है, तथा कर्म करने की इच्छा मंद पड़ती जाती है।

ई० सन् १८१८ मई। इस वर्ष परीक्षा है, उत्तम रूप से अभ्यास करना। परीक्षाफल उत्तम होना चाहिये, परीक्षा में उत्तीर्ण होकर शीघ्रमुक्त हो जाओ। और कितने दिन इस प्रकार व्यतीत करोगे ? अनुत्तीर्ण होने से एक वर्ष और इसी कक्षा में रहना पड़ेगा, तुम्हारे सम्मुख महान दायित्व है।

विद्याभ्यास ओर जीवन गठन की साधना दोनों समान रूप से करनी पड़ेंगी। जीवन गठन कोई साधारण वस्तु नहीं है। इसके लिये विशेष प्रयत्नशील होना चाहिये, केवल उपदेश सुनने से लाभ नहीं होता उत्साह, उद्यम, आग्रह रहने से ही शीघ्र उन्नति होती है। ... .बाल्यकाल में मेरा कोई सहायक नहीं था। अपने आपही सब समाधान करना पड़ता था। सब समय एक ही भाव प्रवाह में रहता था। बाह्यजगत का कुछ ध्यान ही नहीं रहता था। कभी पाठ अभ्यास करने बैठता, पुस्तक हाथ में है, दीपक जल रहा है, परन्तु चेतना नहीं हैं, समस्त रात्रि व्यतीत हो गई है, प्रत्यूष में किसी के बुलाने पर सहसा स्वाभाविक चेतना में आता था।

.... एक दिन में यह सब सम्भव नहीं हो सकता। इसके लिये बहुत परिश्रम करना पड़ता है, बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। परन्तु उत्साह, उद्यम, आग्रह रहने से सफलता सुनिश्चित है। तुच्छ वस्तुओं की ओर ध्यान न देना, किसी की समालोचना से अस्थिर न होना। जिसको सत्य जानते हो उसी को दृढ़ता पूर्वक पकड़े रहना। सारा जगत यदि उसका विरोध करे तो भी अपने सिद्धान्त से विच्युत न होना। जो वस्तु मिथ्या ज्ञात हो उसका सर्वथा त्याग करना। जो वस्तु या कार्य तुम नही करना चाहते, किसी की शक्ति नहीं कि वह तुम से करा ले, ऐसी दृढ़ता लेकर चलना।

संकल्प में दृढ़ता चाहिये, संकल्प जितना दृढ़ होता जायेगा, विरोध करने वालों की शक्ति उतनी क्षीण होती जायगी। लोग कुछ भी कहें, अपना कार्य करते जाना। अल्पकाल तक इस प्रकार दृढ़ता पूर्वक आचरण करने से अपने आप ही सब शान्त हो जायेंगे। संसार में जिनको तुम अपना समझते हो, वे कोई भी तुम्हारे जीवन का दायित्व ग्रहण नहीं करेंगे। अपने जीवन

का दायित्व तुम्हें ही लेना पड़ेगा। दूसरों की बातों पर ध्यान देने से कैसे चलेगा ? किसी भी प्रकार के बाधा विघ्नों को दूर हटाने के लिये सर्वदा प्रस्तुत रहना पड़ेगा। अविचल आत्म विश्वास चाहिये। तुम कुछ महान कार्य कर सकते हो, तुम्हारे में अनन्तशक्ति है यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये। संसार में असम्भव क्या है ? आज जो असम्भव प्रतीत होता है कल वह असम्भव नहीं रहेगा। सदा स्मरण रखना कि तुम्हारे में अनन्त शक्ति है-तुम जो चाहो वह अवश्य कर सकते हो। यह आत्म विश्वास कैसे आता है ? पहले छोटे छोटे संकल्प लेकर उनका अक्षरस. पालन करना चाहिये। तत्पश्चात् क्रमशः बड़े विषयों में संकल्प लेना चाहिये। आत्मविश्वास ही जीवन गठन का मूल उपादान है। जिसमें आत्मविश्वास है वही यथार्थ शूरवीर है, वही शक्ति मान है। इसके अतिरिक्त प्रबल स्वातन्त्र्य बोध चाहिये। 'Speciality is Chastity" वैशिष्ट्य ही पवित्रता है। लाखों लोगों के बीच में भी तुम्हारा अपना व्यक्तित्व, स्वतन्त्र एवं पृथक है यह बोध सर्वदा जाग्रत रखना चाहिये। यह स्वातन्त्र्य और विशेषता ही तुम लोगों का रक्षा कवच है। जिनके जीवन में कोई आदर्श नहीं है, कोई-उद्देश्य नहीं है, जो लोग पवित्र जीवन व्यतीत नहीं करते, सयंम, इन्द्रिय-निग्रह जिनके जीवन में नहीं है, उनका और तुम्हारा जीवन क्या एक हो सकता है? तुम्हारे जीवन का एक विशेष उद्देश्य है, एक विशेष आदर्श लेकर तुम चल रहे हो, यह विचार सर्वदा जाग्रत रखना। जीवन गठन के लिये आत्मविश्वास के साथ आत्ममर्यादा-बोध भी परम आवश्यक है।..... जिनके साथ मेल-मिलाप करने से तुम्हारी विचार धारा में अन्तर आता है, कभी भी उनके संस्पर्श में न जाना। सप्ताह में एक रात्रि जप ध्यान में व्यतीत करना, यदि यह सम्भव न हो तो रात्रि के एक बजे उठकर प्रातःकाल तक जपध्यान करना। रात्रि ही ध्यान करने का समय

है। साधक को उस सयय विनिद्र रहना चाहिये।..... लोग वित्तैश्वर्य के लिये अपने परिवार के लिये कितना परिश्रम करते हैं, परीक्षार्थी पास करने के लिये कितना श्रम करते हैं और धर्म लाभ क्या बिना परिश्रम के ही हो जायेगा ?"

ई० सन् १६१६

किसी भी एक आसन का अभ्यास करना: एक निर्दिष्ट समय में उस आसन पर निश्चित समय तक बैठना। दूसरा समय अनुकूल न हो तो निद्रा से पूर्व भी बैठा जा सकता है। ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि तीन-चार घन्टे तक एक आसन पर बैठ सको। इससे आलस्य जड़ता नष्ट होगी, उद्यम उत्साह की वृद्धि होगी। अचिंता, कुचिंता व मलिन भावना को कदापि अन्तर में स्थान न देना - कभी कोई चिंता आ जावे तो १०८ बार भगवान का नाम स्मरण कर प्रायश्चित्त करना। सकल्प करना कि कुचिंता को कभी जाग्रत नहीं होने दूंगा।..... सर्वदा मृत्युचिंता को अन्तर में जाग्रत रखने से कुचिंता नहीं आ सकती। शरीर की नश्वरता, जगत की अनित्यता का विचार रखने से अवान्छित चिन्ताओं का मूल नष्ट हो जाता है। दृढ़ विश्वास चाहिये। भीष्म की प्रतिज्ञा, बुद्ध का संकल्प तथा प्रहलाद की दृढ़ता के विषय में विचार करना। जो कुछ करूंगा किसी भी दशा में पश्चात् पद नहीं होऊंगा। जो नहीं करूंगा-विश्व की समस्त शक्ति एकत्रित होकर भी मुझसे वह काम नहीं करवा सकती, ऐसी एक निष्ठता एवं दृढ़ संकल्प का भाव चाहिये। पाठ अभ्यास के समय वही काम पूरे मन से करना तथा जप-ध्यान के समय में उसी में मनोनिवेश करना। दूसरी अवान्तर चिन्ताओं को प्रयत्न पूर्वक मन से दूर हटाने की चेष्टा सतत करना। पहले पहल मन इधर उधर जाय तो उसे पुनः

B2W M96 15265

पुनः प्रयत्न करके इष्टचिन्तन में लगाना। जब कोई काम करते हो उसी में सम्पूर्ण एकाग्रता रखना। यदि ऐसा नहीं कर सकते तो समझना कि मन की परवशता में तुम आबद्ध हो। मन तुम्हारे वश में नहीं है। त्याग-संयम-सत्य ब्रह्मचर्य ही जीवन की आधार शिला है। यह चार वस्तुयें जिसके पास हैं उसका सब कुछ सुरक्षित है। जिसमें यह नहीं है उसका कुछ भी नहीं है।··· ···रात्रि में एक बार निद्राभंग होने से पुनः नहीं सोना। बैठकर जप-ध्यान करना। जप की संख्या वृद्धि पर ध्यान देना। जप से अन्तर की पाप-ताप-मलिनता विदूरित होती। सूर्य के प्रकाश से अन्धकार दूर हो जाता है। वीर्यधारण एवं इन्द्रिय-निग्रह ही प्रधान वस्तु है। इसी के लिये समस्त साधन-भजन हैं"

"ई० सन् १९१९। आरब्ध कर्म में सफलता प्राप्त न होने तक विश्राम नहीं करेंगे—यही जिसका प्रण है, वही महान हो सकता है। जीवन में बहुत कुछ महान कार्य करना हैं। समय स्वल्प है। कितने दिन का जीवन है? कब मृत्यु आकर उपस्थित होगी कौन जानता है? एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देना कभी कभी मन नीरस और तिक्त हो जाता है। क्योंकि अन्तर में सत्-संस्कार अत्यन्त अल्प है, चारो ओर विरोधी संस्कारों का घात-प्रतिघात चल रहा है। बाहर दूषित वातावरण है, साधक जीवन में कठिन परीक्षायें आती हैं। इन परीक्षाओं से हताश न होना वीर की भाँति सादसंग्राम के लिये प्रस्तुत रहना कठोर नियम-निष्ठा ही इन सब अनिच्छित भावों से रक्षा करेगी। कभी अपने को दुर्बल न समझना। तुम लोगों से यदि नहीं होगा तो किससे होगा? तुम्हारे जैसे देश में कितने हैं? कितने आज जीवन गठन के लिये प्रयत्नशील हैं? बाधायें तो साधक के जीवन में अनिवार्य हैं। परन्तु वीर साधक उनकी परवाह नहीं करता।

मुमुक्षु भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय
वाराणसी
आगत क्रमांक..... 1648
दिनांक.....

ई० सन् १६१६—प्रह्लाद की दृढ़ता, शंकर का विवेक वैराग्य, श्री चैतन्य का प्रेम तथा बुद्ध के त्याग के विषय में विचार करना। त्याग में ही सुख शान्ती और आनन्द है। जहाँ पर भोगाकांक्षा है वहीं पर असुख-अशान्ति है। भारतवर्ष त्यागियों का देश है, धर्म राज्य तथा अमृत की सन्तानों की भूमि है। उसको पुनः उसी आसन पर प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। सारे देश में त्याग व नीति का आदर्श प्रचार करना होगा। त्याग-व्रती सन्यासिओं का एक दल चाहिये। उन्ही के अनन्य त्याग, आदर्श व साधना, तपस्या से भोगाकांक्षा से मलिन वातावरण शुद्ध और पवित्र होगा। उसी साधना से आदर्शवान, नीतिमान, स्वधर्मपरायण, स्वधर्मनिष्ठ भारतीय-जाति का जन्म होगा।

एक अनुरागी सन्तान की दिनलिपि से उपरोक्त उद्धरण उध्दृत किये गये हैं। इनसे आचार्यदेव के भविष्य जातिगठन आन्दोलन की रूप रेखा पर कुछ प्रकाश पड़ेगा :—

(१) आचार्यदेव अपने सनातन आदर्श पर प्रतिष्ठित-स्वधर्म निष्ठ भारतीय आर्य हिन्दू ज्ञाति का पुनर्गठन चाहते हैं।

(२) उपरोक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिये समाज व जाति की सेवा के लिये आत्मोत्सर्ग करें ऐसे त्यागव्रतिओं का एक दल (समूह) चाहते हैं।

(३) इन त्याग-व्रतिओं को अपने आदर्श, त्याग, संयम, सत्य, ब्रह्म-चर्य की नींव पर सुगठित कर समाज व जाति के सम्मुख उनको उपस्थित करना चाहते हैं।

(४) कुशल शिल्पी की भाँति अनन्त धैर्यपूर्वक वे प्रतिनियत आदेश, उपदेश, निर्देश व प्रेरणा देकर अपनी इच्छानुसार उन लोगों का जीवन गठन कर रहे हैं।

(५) इन त्यागी सन्यासिओं द्वारा जो महान कर्म साधित होगा–सर्वदा उस ओर वे संकेत कर रहे हैं।

(६) रिपु-दमन, इन्द्रिय सयम व वीर्यधारण ही सर्व-प्रकार साधन भजन का उद्देश्य है, एवं धार्मिक व महान जीवन की आधार शिला है–यही शिक्षा आचार्यदेव सबको दे रहे हैं।

(७) वे स्वयं भगवत् प्रेरित आचार्य हैं, समाज–जाति तथा विश्व कल्याण के लिये आविर्भूत हुये हैं–इसका किंचित् आभास समय समय पर देते हैं।

जन्म से ही वे आचार्य हैं–परन्तु अब उसका प्रकाश विशेषरूप से हो रहा है।

धर्म चक्र व कर्मचक्र की प्रेरणा

तथा

जन सेवा के आदर्श का प्रसार

भागवती शक्ति के पूर्ण आधार ब्रह्मचारी जी की समाधि अवस्था में भगवत् निर्देश व युगनियन्त्री शक्ति की प्रेरणा केन्द्रीभूत होने के पश्चात् उनके हृदय में जीव-प्रेम-प्रवाह उद्वेलित हो उठा। वह प्रेम जाति-वर्ण-धर्म-उच्च नीच की सीमा को अतिक्रम कर विश्व को एक अतिमानवीय पवित्र प्रवाह में अवगाहन कराना चाहता था। उनका अलौकिक शरीर व मन युग नियन्त्री महाशक्ति का यन्त्र स्वरूप था। परवर्ती जीवन में कभी कभी वे कहते थे—"जन्म से मैं कभी अपनी इच्छा से नहीं चला। एक काम भी मैंने अपनी इच्छा से नहीं किया। विश्व नियन्ता की इच्छा से ही इस संघ की रचना हुई है—उनके आदेश निर्देश के बिना मैं कुछ भी नहीं करता। मेरी इच्छा से यदि कुछ भी हुआ होगा तो ध्वंस हो जायगा। परन्तु सर्व नियन्ता की इच्छा से हुआ होगा तो विश्व में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो इसको लेशमात्र भी हानि पहुँचा सके।"

एकदा प्रचण्ड ग्रीष्मकाल के समय कार्यवश गया, काशी, विन्ध्याचल इत्यादि स्थानों में यातायात करने से अत्यधिक परिश्रम व अनियम से उनके

शरीर में फुन्सियाँ निकल आईं । उस समय पुरीधाम में रथयात्रा का सेवाकार्य व वार्षिक उत्सव तथा सम्मेलन था । प्रतिवर्ष ब्रह्मचारी जी उस समम वहाँ उपस्थित रहते थे । परन्तु इस समय ज्वराक्रान्त होकर शय्यावश थे। चिकित्सक तथा हम सब लोग उन्हें न जाने के लिये प्रार्थना कर रहे थे । प्रथम तो ऐसा आभास हुआ कि वे मान गये, परन्तु दूसरे ही दिन सबको लेकर वे जगन्नाथपुरी चले गये । वहाँ पर एक सप्ताह तक अत्यधिक कठोर परिश्रम हुआ । शरीर दिन पर दिन कातर होने लगा । परन्तु संकल्पबल से सहस्त्रों यात्रियों तथा कर्मचारिओं के साथ काम में लगे रहे । जब कलकत्ता आये तब और भी पीड़ा से आक्रान्त हो गये । अत्यधिक ज्वर तथा रीढ़ की हड्डी पर एक विकट विस्फोटक होगया । उनकी इस अवस्था को देखकर हम लोगों ने कहा कि उस समय चिकित्सकों का परामर्श मान लेना ही उचित था, पुरीधाम न जाना ही अच्छा होता । इसके उत्तर में आचार्यदेव ने कहा था–"जाने की इच्छा तो नहीं थी, पर न जाने से चला कहाँ ? ऐसी अवस्था में कोई कभी भी नहीं जाता, परन्तु कोई शक्ति मुझे बलात् ले गई ।"

युगाचार्य ब्रह्मचारी जी के भागवत्-जीवन का रहस्य यहीं पर है । इस तत्त्व पर ध्यान देने से उनके "लोक कल्याण मूलक "धर्म चक्र व कर्म चक्र" का रहस्य समझ में आयेगा । कितना भी बड़ा साधक या योगी क्यों न हो वह अपनी शुद्ध मनोबुद्धि अथवा सद्गुरु के निर्देश से कार्य करता है । परन्तु ब्रह्मचारी जैसे युगमानवों द्वारा सृष्ट कर्मचक्र इससे सम्पूर्ण पृथक है ।वह भगवत् निर्देश व भागवती शक्ति का ही प्रत्यक्ष अवदान है । भगवत् विधान से ब्रह्मचारी जी के अन्तर में उद्वेलित भागवती करुणाधारा ने सर्व प्रथम जीवसेवा के रूप में आत्म प्रकाश किया ।

उनके "आश्रम की स्थापना तथा जन सेवा" के कार्य से ही इस अपार करुणा का परिचय प्राप्त होता है।

जन सेवा का कार्यारम्भ

ई० सन् १६१८ में पूर्व बंगाल में एक भयंकर वात्घात (तूफान) आया। लोगों की दुर्दशा की सीमा न रही। उस समय ब्रह्मचारी जी महाराज अपने अनुगत सेवकदल की सहायता से सेवाकार्य करने लगे। इस सेवाकार्य द्वारा उत्साही युवकों में कर्मशक्ति जाग्रत हुई तथा ब्रह्मचारी जी की ख्याति और भी अधिक विस्तृत होने लगी। इस समय श्री सुरेन्द्रनाथ विश्वास व श्री व्योमकेश चक्रवर्ती जैसे अग्रगण्य नेतागण उनके संस्पर्श में आये। तदुपरान्त सुरेन्द्रबाबू इत्यादि नेतृस्थानीय लोगों के आग्रह से 'मदारीपुर सेवाश्रम' की प्रतिष्ठा हुई। त्यागी बालकों तथा युवकों की सहायता से मुष्ठि भिक्षा मांगकर दीन-दुखी व पीड़ितों में सेवाकार्य होने लगा।

१६२० में 'खुलना सेवाश्रम' की प्रतिष्ठा हुई। यहाँ पर भी स्कूल-कालेजों के विद्यार्थिओं की सहायता से विभिन्न प्रकार के सेवाकार्य चलने लगे।

कलकत्ते में नेताओं से परिचय व प्रचार

इस प्रकार ब्रह्मचारी जी का कर्मचक्र क्रमशः विस्तार प्राप्त करने लगा। इस समय मदारीपुर, बाजितपुर, खुलना, कलकत्ता इत्यादि स्थानों में कार्य निरीक्षण, कर्मचारियों को प्रोत्साहन, उनके हृदय में अपने भाव व आदर्श का संचार तथा सेवाकार्य के लिये अविराम परिश्रम से अर्थ संग्रह करने का कार्य सब साथ ही चल रहा था। कलकत्ते में रहकर वे उत्साही व्यक्ति वर्ग तथा अन्य लोगों के साथ अपनी कार्य प्रणाली के विषय में विचार-विमर्श कर रहे

थे। उस समय के बंगला व अँग्रेजी समाचार पत्रों में ब्रह्मचारी महराज के आदर्श, उद्देश्य प्रचारित होने लगे। स्वं देशबधु-चित्तरन्जनदास, स्वं डा० विधानराय स्वं डा० जे० एन मैत्र, पं० श्यामसुन्दर चक्रवर्ती इत्यादि नेतृवर्ग के साथ ब्रह्मचारी जी का परिचय होने लगा। सभी लोग उनके व्यक्तित्व से विशेषरूप से प्रभावित होकर आकृष्ट हुये।

प्रतिनियत कर्म रत होते हुये भी शान्त और समाहित

इस समय ब्रह्मचारी जी को अत्यधिक परिश्रम करना पड़ता था। कष्ट भी अनेक प्रकार के सहन करने पड़ते थे। यद्यपि वे जीवन के अन्तिम समय पर्यन्त अविराम श्रमकर गये हैं तथा उनका समग्र जीवन ही शारीरिक व मानसिक तपस्या का महान यज्ञ था तथापि इस समय केवल दो चार जन ही उनके सहायक थे। इससे सर्व प्रकार के कार्य उन्हीं को एकाकी करना पड़ता था। द्वार-द्वार पर घूमकर वे प्रचार अर्थ संग्रह करते थे।

ब्रह्मचारी महाराज का अधिकतर समय पितृगृह में ही व्यतीत हुआ था। वे अत्यन्त मितभाषी तथा जन-संस्पर्श में बहुत ही कम आते थे, ऐसी अवस्था में उनके लिये यह द्वार द्वार में जाने का कार्य कितना कष्ट साध्य था यह कोई भी अनुमान कर सकता है। परन्तु जन-सेवा के इस प्रकार कार्य करने के समय उन्हें असुविधा या क्लेश है-इसका लेशमात्र भी आभास किसी को कभी नहीं मिला। वे भागवती-शक्ति के लीला यन्त्र बनकर सदा शान्त, स्वस्थ व समाहित रहते थे, "कुर्वन्नपि न लिप्यते"-सब कुछ करते हुये भी निर्लिप्त व निर्विकार थे।

उत्तरकाल में जब वे शत-सहस्र कर्मचारी लेकर अहोरात्रि अविश्रान्त कर्मप्रवाह में संलग्न रहते थे। लाखों जन-समूह के मध्य में विभिन्न समस्याओं पर विचार-विमर्श करते हुये—अनेक प्रकार की कर्मयोजना में व्यस्त होकर भी सभी प्रसंगों में लोग उन्हें देखते थे कि वे स्थिर-शान्त, धीर, गम्भीर, समाहित व आत्मस्थ हैं। उनके व्यक्तित्व में अद्भुत् समन्वय था। पृथ्वी तथा अन्यान्य ग्रह समूह तीव्रगति से चलते हुये भी जैसे स्थिर प्रतिभात होते हैं, आचार्यदेव उसी प्रकार अविराम कर्म करते हुये भी "अचलप्रतिष्ठ" तथा 'स्थितप्रज्ञ' थे। उनके भाव समन्वय पर विचार करने से ज्ञात होता है मानो महायोगी, महाकर्मी, महासंगठक श्री कृष्ण के जीवन एवं उनकी गीता के स्थित प्रज्ञत्व के आदर्श ने ही आचार्य का रूप धारण किया है।

इस समय वे एकाकी ही शत- व्यक्तियों की शक्तिसमन्वित होकर कार्य करते हुये संघ की आधारशिला स्थापित कर रहे थे। कर्मकेन्द्रों में कार्य निरीक्षण, संवाद पत्र में प्रचार की व्यवस्था, प्रमुख नेतृवर्ग के साथ वार्त्तालाप से अपने उद्देश्य, आदर्श व कर्मधारा का प्रचार, अर्थसंग्रह, कर्मीसंग्रह, कर्मचारियों को शिक्षादान इत्यादि कर्म स्वयं ही करते हुये महीनों अविराम परिश्रम किया करते थे। परन्तु उस समय कलकत्ते में उनके निवास तथा भोजन करने की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं थी।

खुलना दुर्भिक्ष में सेवाकार्य

ई० सन् १६२१ में बंगाल के खुलना जिले में दुर्भिक्ष आरम्भ हुआ। संवाद पत्रों में प्रचार होने लगा। प्रमुख नेतावर्ग इस ओर ध्यान देने लगे। ब्रह्मचारी जी ने इस समय बहुत से कर्मचारिओं को लेकर इस कार्य में सक्रिय

भाग लिया। इसमें प्रायः पाँच सौ कर्मचारी कार्यरत रहे और लाखों रुपये का व्यय हुआ।

ब्रह्मचारी महाराज की अद्वितीय कर्मशक्ति व संगठन कुशलता तथा असाधारण परिश्रम ने उस समय के राजा जमीदार-नेता जो कोई भी उनके संस्पर्श में आये-उनको प्रभावित किया। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय सबसे अधिक आकर्षित हुये थे।

अन्तरंग सन्तानों से सम्बन्ध और आचार्यभाव का संकेत

ब्रह्मचारी जी महाराज जब कार्य निरीक्षण करने जाते उस समय सर्वदा अपने भावी साधकों के हृदय में त्याग की प्रेरणा जाग्रत करते, तथा उनके हृदय पट पर अपने अलौकिक व्यक्तित्व का प्रभाव एवं भविष्य के गुरु-दायित्वभार का भाव प्रतिष्ठत करते थे।

इसी समय एक बार वे तीव्र ज्वर से शय्यावश होकर एक आश्रित युवक के अंक पर शिर रखकर यन्त्रणा से अस्थिर हो रहे थे। उसी समय युवक के हृदय में विचार आया— यह कैसे योगी ब्रह्मचारी हैं? साधू सन्यासी-महान पुरुष को ऐसी यन्त्रणा या रोग क्यों होते है? और इस प्रकार वे अस्थिर ही क्यों हो रहे हैं? युवक के हृदय में यह विचार उठने के साथ ही ब्रह्मचारी जी शान्त हो गये और युवक के मुख की ओर देखते हुये इस प्रकार बोले— "बुद्ध और शंकर को भी ऐसी व्याधि हुई थी। महाप्रभु चैतन्य भीइसी प्रकार पीड़ित हुये थे।" इतना कह कर वे पूर्ववत् यन्त्रणा से व्याकुल होने लगे। युवक विस्मित होकर सोचने लगा—"मेरे अन्तर की बात

वे कैसे जान गये ? यह तो उसके आन्तरिक संशय का समाधान है कुछ वर्ष पश्चात् युवक का संशय सदा के लिये निर्मूल हो गया। ब्रह्मचारी जी की अलौकिक तपशक्ति ने युवक के अन्तर में एक ऐसे अपूर्व परिवर्त्तन का सृजन किया कि उन्हें यह दृढ़ अनुभव हो गया कि यह बुद्ध-शंकर-चैतन्य जैसे भगवत् प्रेरित आचार्य ही हैं। तदुपरान्त उन्होंने ब्रह्मचारी जी को जगत्गुरु आचार्य-रूप में वरण कर देशवासी के निकट उसी भाव का प्रचार किया।

दुर्भिक्ष के समय में सेवाकार्य के प्रसंग में जो लोग उनके संस्पर्श में आये थे उन सबके अन्तर में कुछ न कुछ संशय था। परन्तु उनके अमोघ आकर्षण से सभी उनकी ओर आकृष्ट होते थे। उस समय ब्रह्मचारी जी के परिधान में केवल श्वेत बहिर्वास, कौपीन व श्वेत उत्तरीय ही रहता था। गुरुभाव या आचार्यभाव गुप्त था। सब कर्मचारी उन्हें प्रियतम सखा तथा ज्येष्ठ भ्राता की दृष्टि से देखते थे। परन्तु उनके तेजःपूर्ण शरीर अविचल गाम्भीर्य, विराट व्यक्तित्व तथा अव्यर्थ निर्देश के सम्मुख सबका अस्तित्व स्तिमित सा हो जाता था। इतना होते हुये भी उनके व्यवहार में, वार्तालाप में, किसी प्रकार के प्रभुत्व या कर्तृत्वभाव का लेशमात्र भी नहीं था। जिस प्रकार क्षितिज अत्यन्त निकट प्रतिभात होने पर भी अग्रसर होने से दूर दूर हटता जाता है वे भी उसी प्रकार सब के निकटतम होते हुये भी स्वतन्त्र और निर्लिप्त से रहते थे। उनकी चुम्बकवत् आकर्षण शक्ति विभिन्न प्रकृतियों के कर्मीगण को एक ही बन्धन में बाँधकर रखती थी—यह एक अपूर्व रहस्य था।

आशाशुनी सेवाश्रम

ई० सन् १६२१ में दुर्भिक्ष सेवाकार्य बन्द होकरसंगठनमूलक सेवाकार्य आरम्भ हुआ। गाँव गाँव में सहस्रों चर्खे वितरण किये गये। करघों पर सूत,

कपड़ा, दरी, इत्यादि प्रस्तुत होने लगा। चटाई तथा बेत के कारखाने भी आरम्भ किये गये। इन उद्योग-केन्द्रों में गाँव के दीन-दुखी लोगों को शिक्षा भी दी जाती थी और पारिश्रमिक भी दिया जाता था। आशाशुनी में मुख्य आश्रम तथा प्रताप नगर इत्यादि में शाखा केन्द्र स्थापित किये गये। नीति धर्म के प्रचारार्थ गाँव-गाँव में धर्म सभा तथा शिक्षा प्रचार के लिये पाठशालाओं की स्थापना हुई। निष्शुल्क औषधालय भी खोले गये। अनेक त्यागी कर्मी इसमें संलग्न हो गये।

निस्वार्थ कर्मी को कर्म शक्ति व कर्मोत्साह को जाग्रत रखने के लिये-शक्ति और आनन्द के उत्स की सृष्टि करनी चाहिये। ऐसे आश्रम की स्थापना होनी चाहिये जहाँ पर त्याग-संयम-सत्य-ब्रह्मचर्य के आदर्श से उद्‌बुद्ध कर्मी का जीवन गठन हो सके। जिससे अनन्त उद्यम-उत्साह से पूर्ण, शक्ति-सामर्थ्य के मूर्त्त-स्वरूप यह त्यागी कर्मवीर, कर्म विमुख, निर्जीव, हीन-वीर्य, जड़ता से आच्छन्न जनता में कर्मोन्मादना की सृष्टि कर सकें। अतः ब्रह्मचारी जी की प्रेरणा से उपरोक्त आश्रम इन सब कार्यों के केन्द्ररूप में प्रस्तुत होने लगे। एक ओर पूजा, आरति जपध्यान, भजन, कीर्त्तन तथा दूसरी ओर निःस्वार्थ जनकल्याण का कर्मप्रवाह धर्म व कर्म के अपूर्व समन्वय से नवीन युग का जाति गठन-केन्द्र प्रस्तुत हुआ। ई० सन् १९२१ में नवम्बर मास में खुलना नगर के पास ही एक और आश्रम की प्रतिष्ठा हुई। जो लोग त्यागी बनकर ब्रह्मचारी जी के भविष्यत् धर्मचक्र व कर्मचक्र के लिये आत्मोत्सर्ग करते वे अधिक संख्या में इसी आश्रम में आकर रहते थे।

जगत्‌हिताय सर्वत्यागी नवीन दल

देश व जाति के कल्याणार्थ आत्मोत्सर्ग करने के लिये कृत-निश्चय नवीन कर्मीदल कर्म के प्रबल-प्रवाह में आत्म-निमज्जन करने लगे। आश्रम

तथा सेवाकार्य से निवृत्त होने पर वे सब आत्म-जीवन गठन व जातिगठन के विषय में गम्भीर चिन्तन व परस्पर वार्त्तालाप करते। सब के हृदय में एक ही भावधारा स्पन्दित हो रही थी। ब्रह्मचारी जी महाराज की प्रेरणा से इनमें से कई एक ने माघी पूर्णिमा के समय बाजितपुर सिद्धाश्रम में जाकर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य संस्कार ग्रहण करने का सिद्धान्त ग्रहण किया।

बाजितपुर सेवाश्रम में ब्रह्मचारी जी का सिद्धपीठ

यह आश्रम बड़ा ही मनोरम है। वातावरण शान्त तथा गम्भीर है। ग्राम के सन्निकट होने पर भी उभय पार्श्व में नदी होने के कारण गाँव से पृथक-सा भी है। असंख्य-वृक्ष-लता-गुल्मों से मण्डित इस ग्राम की शोभा अत्यन्त रमणीय है। ऋषिकेश व लछमन झूला के आश्रम देखे हैं। पार्वत्य सौन्दर्य के मध्यस्थित, शत् सहस्रों साधु सन्तों से परिवेष्टित इन आश्रमों की शोभा बाजितपुर के आश्रम से सम्भवतः अधिक है, सम्भवतः क्यों ? वास्तव में ही वे हिमालय के पाददेश के दृश्य अपनी अद्वितीय शोभा के प्रतीक हैं। वहाँ साधु-सन्तों के बीच मासावधि निवास कर, माधुकरी भिक्षा लेकर एकान्त वास किया, पतितोद्धारिणी जान्हवी के शीतल वक्ष में निमज्जित रहकर हृदय की ज्वाला को शान्त करने का प्रयत्न किया। परन्तु शान्ति न मिली। विचार से देखता था कि अनेक प्रकार के धर्मानुष्ठान हो रहे थे, परन्तु शान्ति, अन्तर की अनन्त शान्ति मानो दूर हटती जा रही थी। सब कुछ रहते हुये भी किसी विशेष वस्तु का अभाव अनुभव करता था। क्षोभ और अशान्ति से पुनः वंगभूमि के श्यामल अङ्क में जा उपस्थित हुआ।

इस आश्रम में लक्ष्मणझूला का गाम्भीर्य पूर्ण सौन्दर्य नहीं है। साधु-सन्तों का समागम भी यहाँ पर नहीं है। परन्तु अनन्तकाल से जिस शान्ति

की खोज में था उसे मूर्त्तस्वरूप में यहीं प्रथमबार दर्शन किया। सनातन आदर्श की जीवन्त प्रतिष्ठा देखकर अन्तरात्मा कृतकृत्य हो उठी। क्यों और कैसे ? इसी का उत्तर देने के लिये इस ग्रन्थ की अवतारणा है।

माघी पूर्णिमा महोत्सव व ब्रह्मचर्य संस्कार

पुण्यमयी माघी पूर्णिमा तिथि है। अहोरात्रि नाम संकीर्त्तन से वायु-मण्डल द्विदिव्यभाव से पूर्ण है। सर्व श्रेणी के हिन्दू तथा मुसलमान जनता भक्ति रसात्मक भजनानन्द के प्रेमप्रवाह में आनन्द मग्न है। ब्रह्मचर्य संस्कार प्रार्थी नवीन दल नियम अनुसार, विधि-विधान पूर्वक ब्रह्मचर्य का सुदृढ़ संकल्प ग्रहण करने को प्रस्तुत हैं। यथा समय मन्दिर अभ्यन्तर में होमाग्नि प्रज्ज्वलित हुई। यज्ञवेदी के सम्मुख निम्नलिखित पञ्च-प्रतिज्ञायें पठित हुईं :—

१—जिस त्याग व्रत को ग्रहण किया हैं उसको जीवन में कभी भी परित्याग नही करूंगा।

२—रिपु व इन्द्रियगण को कदापि प्रश्रय नहीं दूंगा।

३—आत्मोपलब्धि न होने तक यह त्यागी का वेश एवं सन्यास आश्रम के विधि-निषेध का उल्लंघन कदापि नहीं करूंगा।

४—प्रतिनियत सत्यमार्ग पर प्रतिष्ठित रहकर सत्यस्वरूप सनातन पुरुष को प्राप्त करने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहूंगा।

५ आजीवन कौमार्यव्रत पालन करूंगा।

ब्रह्मचारी जी ने ब्रह्मचर्यकामी त्यागी सन्तानों को कौपीन एवं बहिर्वास प्रदान किया। मुख से कुछ भी उच्चारण नहीं किया, परन्तु उस दिन सभी

ने यह अनुभव किया था कि मौखिक उपदेश करने वाले गुरु का अभाव नहीं है, परन्तु अन्तर में प्रेरणा संचार कर जीवन कमल को विकसित कर सके ऐसे महान आचार्य कहाँ हैं ? "गुरोस्तु मौन-व्याख्यानं, शिष्यास्त् छिन्न संशया:" ऐसे गुरु कहाँ हैं ? ऐसे शिष्य भी कहाँ हैं ? लाखों में एक दुर्लभ !

संघ-निर्माण व सन्यासी संगठन

आश्रम प्रतिष्ठा व जनसेवा के आदर्श के प्रसार के साथ आचार्यदेव एक ओर जैसे देश, जाति व समाज की आपत्ति के समय सेवा, सहायता व प्रेरणा दे रहे थे, वैसे ही उनके भविष्य "धर्मचक्र व कर्मचक्र" के प्राणस्वरूप जिन लोगों ने उनके विश्व कल्याण यज्ञ में आत्माहुति दी थी ऐसे सर्व त्यागी नवीन दल का उनके स्वस्व रुचि, प्रकृति, प्रतिभा, शक्ति, वृत्ति व संस्कार के अनुसार चरित्रगठन व शक्ति के विकास की व्यवस्था कर रहे थे। विभिन्न प्रकार के कार्य व अनुष्ठान के माध्यम से इस नवीन शिक्षित-तरुण दल को अपने भाव व आदर्श के अनुसार प्रस्तुत कर "धर्म संस्थापन व जाति-गठन मूलक" संगठन करना उनका उद्देश्य था। अटूट धैर्य, अनन्त अध्यवसाय, अपार सहनशीलता पूर्वक कितने स्नेह-प्रीति-आदर यत्न से पूर्ण नीति व कौशल से किस प्रकार धीरे-धीरे सन्यासी संगठन व संघ गठन कर रहे थे—इस विषय पर विचार करके विस्मय विमुग्ध रह जाना पड़ता है।

ई० सन् १९२२ तथा १९२३ में जो सब त्यागी कर्मी ब्रह्मचारी जी के साथ स्थायीरूप से सम्मिलित हुये, उनमें से कुछ आशाशुनी सेवाश्रम, कुछ कलकत्ता कार्यालय, कुछ मदारीपुर सेवाश्रम तथा कुछ बाजितपुर सेवाश्रम में रखे गये। कभी कभी एक आश्रम से दूसरे आश्रम में भी स्थानान्तरित किया

जाता था। ब्रह्मचारी जी महाराज सभी आश्रमों में कतिपय दिन रहकर कर्मिओं को प्रोत्साहन देते थे और उनमें उच्च आदर्श व भावना की प्रेरणा भरकर दायित्व बोध जाग्रत करते थे। बाह्यतः वे कुछ उदासीन रहकर कर्मी को स्वतन्त्रता देते थे, प्रत्यक्ष रूप से कोई आदेश नहीं देते थे। परन्तु परोक्ष-भाव से प्रत्येक के मनोभाव, वार्त्तालाप, काम काज व आचरण पर तीक्ष्ण दृष्टि रखते थे। "इन सब युवकों में से किसी को कभी साथ रखते थे, किसी को संकेत व उपदेश करते थे, किसीको कर्म कानिर्देश व प्रोत्सा-हन देते थे किसी पर तीक्षण दृष्टि रखते थे। किस में संघ के गुरुतर दायित्व का भाव जाग्रत करते थे। किसी को त्याग व वैराग्य की वाणी से उद्दीपित करते थे। किसी के संस्कार पर प्रत्यक्ष आघात न पहुँचाकर सबके सम्मुख उसकी प्रकृति के अनुसार कर्म, उत्साह, कल्पना इत्यादि की सुविधा देकर उसे अपनी ओर आकृष्ट किया करते थे। परन्तु अवसर देकर यथा समय तीव्र आघात व कटाक्ष से उसकी जड़ता तथा शिथिलता को विदूरित करते थे।

ब्रह्मचारी जी की वाणी

एकदा एक ब्रह्मचारी ने उनसे कहा—"आपके परिकल्पित आदर्श व भाव को लोग समझ नहीं पाते हैं! सभी कोई राजनैतिक अहिंसा असहयोग आन्दोलन में व्यस्त हैं।" यह सुनते ही उन्होंने तीव्र स्वर से कहा-"क्या तुम अपने संघ को समझते हो? दूसरे लोग कैसे समझेंगे? पहले तुम तों जानने समझने की चेष्टा करो तब देखोगे कि दूसरे लोग भी समझेंगे।"

दूसरे एक समय किसी ब्रह्मचारी ने प्रसंगवश उनसे कहा—"महात्मा गाँधी अब देश के नेता व पथ प्रदर्शक हैं, उनके असहयोग आन्दोलन में आज देश-जाति का पूर्ण सहयोग है।" तब अत्यन्त दृढ़कण्ठ से उन्होंने कहा—"देश

क्या चाहता है, समाज की क्या आवश्यकता है ? जाति को आज किस वस्तु का अभाव है ? इसे कौन समझता है ? कितने लोगों का इन समस्याओं के प्रति ध्यान है ? जो मन-बुद्धि कामना-वासना से जर्जरित तथा रिपुइन्द्रियों के आधीन है –उस बुद्धि से क्या देशजाति व समाज की समस्या का समाधान हो सकता है ? यदि व्यास-वशिष्ठ-वाल्मीकि जैसे ब्रह्मज्ञ ऋषि हों, बुद्ध-शंकर-चैतन्य जैसे सिद्ध महापुरुष हों तो वे समझ सकेंगे कि मैं तुम लोगों को जो मार्ग दिखा रहा हूँ उसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।"

एकदा एक ब्रह्मचारी ने जप-ध्यान के विषय में प्रश्न किया—"जप करते समय संख्या रखना क्या परम आवश्यक है ? अनेक उपदेशक कहते हैं कि संख्या रखने की चेष्टा करने से मन विचलित हो जाता है–मन को पूर्ण तया निविष्ट करना चाहिये।" यह सुनकर आचार्यदेव ओजस्वी स्वर में बोल उठे—"जो लोग यह कहते हैं उन्हें जपध्यान के विषय में यथार्थ अनुभव (Practical Knowledge) नहीं है। जपसाधना की फल प्राप्ति उन्हें कभी नहीं हुई है। जपकी साधना के विषय में वे अज्ञान हैं। संख्या न रखने से जप होता ही नहीं है। उन लोगों के कथन पर कदापि ध्यान न देना। संकल्प न रखने से क्या जप हो सकता है ? यवन हरिदास प्रतिदिन तीन लाख जप करके सिद्ध हो गये थे। किस स्थिति में जप की आवश्यकता नहीं रहती ? जब श्वास-प्रश्वास के साथ अजपा जप होता है–वह वस्तु हो भिन्न है।"*

---

* जप साधना कायेन मनसा वाचा करना चाहिये-स्थिर भाव से आसन पर बैठ कर कटि-वक्षस्थल व स्कन्धों को समरेखा में रखकर त्रिकुटी में सद्गुरु या इष्ट की मूर्ति का ध्यान करते हुये स्वयं समझे परन्तु दूसरे न सुन सकें। इस प्रकार निःशब्द जिह्वा द्वारा हाथ में या माला में संख्या रखकर जप करना चाहिये।

एक दिन ब्रह्मचारिओं में परस्पर विचार होने लगा कि समस्त दिन विभिन्न प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहने से रात्रि को जब जपध्यान के लिये बैठते हैं तब उन सब कार्यों की चिन्ता मन में जाग्रत होती है, और मन एकाग्र नहीं होता। कर्म और साधना का कैसे समन्वय हो सकता है ? किसी के मुख से इस प्रकार की बात सुनकर उन्होंने समझाया—"काम बिना किये रहा नहीं जाता इस लिये काम करता है। प्रवृत्ति के आधीन होकर कर्म करता है जिसदिन मेरे लिये कर्म करेगा, मेरे आदेश-उपदेश व निर्देश से समस्त क्रियाओं का नियंत्रण करेगा उसदिन अनुभव होगा कि जप ध्यान में चित्त एकाग्र होता है या नहीं।"

खुलना आश्रम में एक विद्यार्थी ब्रह्मचारी जो महाराज का विशेष अनुरागी था। उस समय हम सब लोग व्यक्तिगत रूप से ब्रह्मचारी जी की सेवा में अभ्यस्त थे। केवल इतना ही नहीं परन्तु उसकी आवश्यकता भी नहीं समझते थे। उपरोक्त बालक अत्यन्त प्रेम व आग्रह के साथ उनकी सेवा करता था एक दिन उस बालक के विषय में उल्लेख करते हुये उन्होंने हम सब को समझाया–"खुलना आश्रम में आते समय सबसे पहले उस बालक की याद आती है–जिस समय वह जलपूर्ण पात्र लेकर खड़ा रहता है उस समय आवश्यकता न होने पर भी मुझे उसकी ओर जाना पड़ता है। आध्यात्मक्षेत्र में अन्तर का भाव ही सब कुछ है। जहाँ भाव नहीं है वहाँ कुछ नहीं है।"

एकबार एक ब्रह्मचारी को पत्र में लिखा–"तुम लोगों को त्याग की जीवन्त मूर्ति बनना पड़ेगा। तुम लोग सनातन आदर्श में गठित होते हुये आर्य ऋषियों के आसन पर उपविष्ट होकर

एकबार श्वासग्रहण कर जप करना- पुनः जप करते हुये श्वास परित्याग करना फिर श्वास ग्रहण कर जप करना–यही जप करने की साधारण रीति है।

इस अधःपतित देश को नीति व धर्म के मार्ग पर परिचालित करोगे। नीति व धर्म प्रचार करने के लिये-त्याग, संयम, सत्य, ब्रह्मचर्य की महिमा विघोषित करने के लिये ही तुम लोगों का जन्म हुआ है।.....तुम स्वयं प्रस्तुत हो, योग्य शक्ति-सामर्थ्य प्राप्त करो, तुम सिंह शिशु हो, तुम्हारे एक-एक जन में दस सहस्र हस्तिओं की शक्ति निहित है।"

अन्यत्र किसी ब्रह्मचारी को इस प्रकार लिखा था—"मध्नुय स्थित प्रज्ञ न होने तक अनेक प्रकार की चंचलता का परिचय देता है, परन्तु जिसमें दृढ़ संकल्प है, आरब्ध कर्म के लिये जिसने आत्मोत्सर्ग करने का पूर्ण निश्चय किया है, ऐसे व्यक्ति अपने धैर्य-स्थैर्य-सहनशीलता को त्याग कर, आत्म मर्यादा व आत्म-विश्वास को तिलाञ्जलि देकर, सामयिक चंचलता के वशीभूत होकर, सामयिक उत्तेजना से प्रभावित होकर मन की परवशता को प्रश्रय देता हुआ कदापि स्वेच्छाचार नहीं करता।.....अपने अपने दायित्व की गुरुता का विचार कर संकल्पित कार्य को पूर्ण करने के लिये प्रणबद्ध हो जाओ।"

मनुष्य की शक्ति, मनुष्य का मनुष्यत्त्व वीर का वीरत्त्व वहीं पर है जहाँ पर वह अनन्त उद्यम, उत्साह व अध्यवसाय के साथ सर्वप्रकार के दुःख, दैन्य व आपद्-विपद् की उपेक्षा कर निज संकल्पित व्रत को पूर्ण करने के लिये अचंचल होकर, अचल, अटल, अटूट भाव से कटिबद्ध रहता है.....।"

अपर एक स्थान में लिखा है—"तुम अमृत की संतान हो, किसी प्रकार की चंचलता के वशीभूत न होना। तुम लोग स्वतः पवित्र, स्वतः शुद्ध हो तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं है। कौन तुम्हें नष्ट कर सकता है ? तुम धीर स्थिर व आत्मविश्वासी बनो, आमत्शक्ति के विकास के लिये सतत चेष्ठित हो जाओ। ..... तुम वीर की संतान हो, तुम्हारे में दुर्बलता कैसी ?

मनुष्य के जीवन में जो कुछ सम्भव है, तुम्हारे जीवन में वह क्यों नहीं सम्भव होगा ? तुम्हारे जीवन में यदि सम्भव नहीं होगा तो अन्य किसी के जीवन में भी कुछ सम्भव नहीं होगा ।.....विपुल विक्रम व प्रबल पराक्रम के साथ यथार्थ वीर की भाँति आरब्ध कर्म धैर्यपूर्वक करते चलो "

अन्यत्र उन्होंने लिखा—"आत्मविश्वास की अमोघशक्ति से शक्तिमान होकर आत्मशक्ति पर निर्भर करके सहस्रों सन्तप्तप्राण को सुशीतल करने के लिये अपने इस संघ को समर्थ बनाओ। छिन्न-विच्छिन्न समस्त शक्तियोंको एकत्रित कर, विराट संघशक्ति का निर्माण करो। भूल जाओ रिपु इन्द्रिय की उत्तेजना को ! भुलादो–पाप-ताप-आधि-व्याधि को–इस प्रकार नित्य-शुद्ध-मुक्त-स्वभाव होकर उद्धार करो पतित को, रक्षा करो विपन्न को, शान्ति सुख प्रदान करो सन्तप्त को आश्रय दो निराश्रय को–तुम लोगों के संघ का वह दिन शीघ्र ही आनेवाला है जब शत-सहस्त्र लोग इसके संस्पर्श में आकर अपने जीवन-जन्म के उद्देश्य को प्राप्त कर सफल मनोरथ कर। ..... सर्वनियन्ता ने इस संघ के संचालन का भार स्वयं ग्रहण किया है, अतः वे ही इसकी परिचालना करेंगे। यदि कोई चातुरी व प्रवञ्चना वश इसको कलुषित करने की चेष्टा करेगा तो वह विफल मनोरथ होगा।"

और एक पत्र में उन्होंने लिखा था–"तुम लोगों को पाप-ताप-आधि व्याधि से क्लिष्ट लोगों को महामुक्ति के पथ पर प्रवर्तित करना होगा। ऐसा प्रबल प्रभाव विस्तारित करना पड़ेगा जिससे यह देश पुनः जाग्रत हो उठे।"

"तुमको धैर्य-स्थैर्य व सहिष्णुता की मूर्ति बनना पड़ेगा। तुम्हारे

प्रसन्न व प्रशान्त मुख-मण्डल की ज्योति तथा तुम्हारे अन्तःकरण का ज्ञानालोक इस संघ को आलौकित करके समस्त देश को त्यागरूप महाव्रत ग्रहण करने के लिये उत्साहित करेगा। सर्वदा स्मरण रखना कि यह शरीर काम-कांचन भोग के लिये नहीं है प्रत्युत यह देह नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव सनातन पुरुष का लीला क्षेत्र है।

"धर्म का प्राण अनुभूति, अनुष्ठान व आचरण में है। शास्त्र अध्ययन, शास्त्र-श्रवण से कदापि धर्मलाभ नहीं हो सकता। जो मन प्रति नियत इन्द्रियों से पीड़ित, काम-क्रोधादि से निरन्तर उत्तेजित तथा कामना वासना से सतत् जर्जरित हो रहा है-उस मन व बुद्धि से यदि कोई धर्म तत्त्व का रहस्य उद्घाटन करना चाहे तो उसे उन्माद की ही आख्या दी जायेगी। यह अभ्रान्त सत्य है कि तुम लोगों के अन्तर की प्रसुप्त शक्ति के उद्बोधन, विकास व प्रकाश के लिये इस संघ (संघनेता) की सहानुभूति व सहायता विशेष अनुकूल व उपयोगी होगी।"

इस प्रकार सतत असंख्य आदेश, उपदेश, आश्वासन, सहानुभूति, समवेदना तथा उत्साह दायिनी वाणी द्वारा ब्रह्मचारी जी महाराज नवीन त्यागव्रती सन्तानों का जीवन गठन कर रहे थे।

ब्रह्मचारी जी की शिक्षा पद्धति

उपरोक्त प्रसंगों से स्पष्ट प्रतिभात होता है कि किस प्रकार परोक्ष-पद्धति से वे त्यागी-सन्तानों के व्यक्तित्व का विकास साधन कर रहे थे।

(१) आश्रित कर्मी के कर्मक्षेत्र की स्वतन्त्रता में बाधा नहीं डालते थे।

(२) परन्तु कर्मीगण के अन्तर की सुप्तशक्ति को उच्चतर स्थिति व भावों की ओर आकर्षित करते हुये उनमें आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता वीरत्व व दायित्व बोध जाग्रत कर देते थे।

(३) अपने विराट-भविष्य-संघ-गठन-परिकल्पना का आभास देकर संघ के प्राण स्वरूप त्यागी-कर्मीगण को दायित्व ग्रहण करने के लिये प्रोत्साहित करते थे।

(४) जो महत्व व उन्नति कर्मीगण को भविष्य में प्राप्त होगी उसका यथार्थ विश्वास कराते हुये उन्हें आश्वासन देकर चिन्तामुक्त करते थे।

(५) परोक्षरूप से भ्रम तथा कुसंस्कारों पर प्रबल आघात करते हुये अन्तर के तमोभाव को दूर करते थे।

(६) श्रद्धा व सेवा से ही आचार्य की शक्ति व भाव अनुरागी शिष्यों में संचारित होती है-इस ओर इंगित कर रहे थे।

(७) आचार्य की शरण में जाकर उनके आदेश से कर्म करने से विश्व का कल्याण तथा कर्मीगण की चित्तशुद्धि दोनों ही साधित होती हैं। इसी को कर्मयोग कहा जाता है इस तत्त्व को ओर निर्देश करते हुये आचार्य की शरण में आने के लिये प्रेरणा देते थे।

(८) वे ही इस युग के आचार्य तथा जाति के मार्गदर्शक हैं-इस विषय पर इंगित करते थे।

(९) निकट या दूर कहीं पर क्यों न हो-भविष्य-त्यागी सन्तानों पर सर्वदा ध्यान रखते हुये प्रत्येक को उसके भाव व संस्कार पोषक प्रोत्साहन आश्वासन तथा आनन्ददायिनी वाणी द्वारा सदा उत्साहित करते थे।

(१०) उनका निर्देश ही एकमात्र अमोघ कल्याण-मार्ग है—इस पर दृढ़ विश्वास रखने के लिये इंगित करते थे।

जब कोई सन्तान निर्जन, एकाकी स्थान में साधन-भजन का आग्रह प्रकाश करते तब ब्रह्मचारी जी महाराज दृढ़ और गम्भीर स्वर में कहते—"संकल्पित मन ही पर्वत की निर्जन गुफा है, जिसपर जो दायत्व देकर जहाँ पर रखा गया है, उसी स्थान को हिमालय की गुफा मानकर रहना चाहिये क्या मेरा यह पूर्ण-निष्कलंक परम पवित्र जीवन किसी निर्जन पहाड़ की गुहा में तपस्या से प्रस्तुत हुआ ? जहाँ पर दृढ़ संकल्प है वहीं पर मुक्ति है"

इस प्रकार स्पष्ट निर्देश से भी जिनका संशय नहीं मिटता था उसके सम्मुख एक काल्पनिक चित्र रखते थे—"गया में पहाड़ के निकट ही आश्रम बनायेंगे। जिसकी आकांक्षा होगी—वहाँ पर जाकर निर्जन में भगवत् आराधना व साधन-भजन करेगा।" संशयशील का मन आनन्द से भर जाता था। और वह नवीन उत्साह लेकर कर्म में प्रवृत्त होता था।

चन्दा माँगते मांगते जब किसी का हृदय तर्क-वितर्क व आत्मग्लानि से भरजाता तथा वह विचार करता कि और कितने दिन इस प्रकार अपमान सहन करना पड़ेगा ? तब ब्रह्मचारी जी महाराज स्नेहपूर्ण मृदुस्मित तथा मधुर दृष्टि से चित्त के अवसाद को दूर करते हुये कहते—"हम लोग त्यागी सन्यासी हैं। साधन भजन-तपस्या और धर्म-प्रचार करना ही हमारा कार्य है। सदा हो इस प्रकार का सेवाकार्य नहीं करना पड़ेगा हम लोग मार्गदर्शन दे रहे हैं, जब देश के लोग इस काम को अपने हाथ ले लेंगे तब हम लोग अपने काम में लग जायेंगे। हम लोग किसी के आधीन तो हैं नहीं ? जो किसी की आज्ञा से काम करना पड़ेगा। हमतो स्वेच्छा से देश के कल्याणार्थ काम करते हैं। शीघ्र ही ऐसी व्यवस्था होगी कि जब किसी की इच्छा होगी

तों वह थोड़े दिन निर्जन * स्थान में जाकर साधन-भजन कर सकेगा।" यह सुनते ही कर्मी के मन की खिन्नता दूर हो गई। नवीन आशा उत्साह व आनंद लेकर पुनः कर्म प्रवाह में अग्रसर हो गया। किसी किसी ब्रह्मचारी की आरंभ से ही कल्पनाथी-गुरुगृह ब्रह्मचर्य आश्रम की प्रतिष्ठा हो वहाँ पर प्राचीन वैदिक आदर्श के अनुसार बालक विद्यार्थी सरल, विलास-व्यसन से रहित संयममय जीवन यापन व वीर्यधारण में अभ्यस्त होंगे अस्तु, खुलना आश्रममें ब्रह्मचर्य आश्रम की प्रतिष्ठा करने का आदेश देकर उसको प्रोत्साहन दिया। और एक ब्रह्मचारी वैराग्यभाव व निर्जन स्थान में साधन-भजन करने के पक्षपाती है तथा उन्हें जन सेवा के कार्य में रुचि नहीं है ब्रह्मचारी जी ने उन्हें वैराग्य साधन व निर्जन में तपस्या करने का उपदेश दिया। उसने समझा कि ब्रह्मचारी जी ने मेरे अन्तर के भाव को जानलिया। अन्य किसी को उसी के संस्कार के अनुसार कहा—"तुमको परिव्राजक प्रचारक के रूप में संघ की वाणी प्रचार करनी पड़ेगी वह तभी ब्रह्मचारी जी की प्रोत्साहनवाणो से उद्दीपित हो उठा।

किसी ब्रह्मचारी को सेवाकार्य व ग्राम संगठन के कार्य में विशेष अनुराग था। उसको उसी में प्रोत्साहन देकर उसके अनुष्ठित कार्य की प्रशंसा की, इससे उसका आकर्षण उनके प्रति और भी अधिक प्रवल हुआ। मनन व अनुशीलन के द्वारा सन्तानों के हृदय में इच्छित भाव व आदर्श विकसित एवं वर्द्धित हो इसलिये एक मासिक पत्रिका प्रवर्त्तन करने के लिये प्रोत्साहन

---

* इस समय गया में ब्रह्मयोनि पहाड़ के पास जमीन लेकर आश्रम बनाने का विचार चल रहा था।

दिया। "भारत-सेवक" के नाम से पत्रिका प्रकाशित होने लगी। इस प्रकार से जिसकी जैसी भावना थी उसको उसी के भाव-परिकल्पना के अनुसार आश्वासन प्रोत्साहन देकर उसकी शक्ति व भाव का विकास व पुष्टि साधितकर अपनी ओर आकृष्ट करते हुये अपने साथ अविच्छेद्य सम्बन्ध से उनको क्रमशः निविड़तम रूप से युक्त करने लगे।

त्यागी कर्मी के लिये ब्रह्मचारी जी की व्याकुलता

ब्रह्मचारी जी महाराज महासमुद्र की भाँति स्थिर, गम्भीर, प्रशान्त व स्वल्पभाषी थे। परन्तु उनकी मृदु अपितु वज्रवत् प्रभावशाली वाणी के द्वारा उनके अन्तर की बाड़वाग्नि प्रकाशित होती थी। उस वाणी से प्रस्तरवत् अनुभूति हीन प्राणों में भी नवीन भाव व उत्साह जाग्रत हो जाता था। ब्रह्मचारी जी के हृदय में अनागत त्यागी कर्मीगण के लिये अत्यन्त प्रबल व्याकुलता जाग्रत हो उठी। स्तन्यभार से भाराक्रान्त माता जिस प्रकार दुग्धपोष्य सन्तान के लिये चंचल हो उठती हैं वैसे ही वे भी अपने महाभाव व शक्तिधारण करने के योग्य तथा उनके अभिप्रेत "धर्मचक्र व कर्मचक्र" में आत्मोत्सर्ग करेंगे-उनसब आगत तथा अनागत शुद्ध-सत्त्व आधार स्वरूप बालक व युवकों के लिये तीव्र व्याकुलतापूर्वक अधीर हो उठते थे। किसी एक युवक के आश्रम में रहने की इच्छा प्रगट करने पर ब्रह्मचारी जी स्वयं उसको दूसरे दिन घनघोर वर्षा में नदीपार होकर स्टीमर पर बैठाकर आये। यह साधारण कार्य कोई दूसरा भी कर सकता था। परन्तु इसमें उनकी अनन्य आन्तरिकता व व्याकुल आग्रह ही लक्षित होता है। शत शत युवक स्वयं-सेवक के रूप में आश्रम के विभिन्न कार्यों में नियुक्त थे। उन लोगों में त्याग-वैराग्य का भाव स्फुरण करने के लिये ब्रह्मचारी महाराज प्रायशः विनिद्र रात्रि व्यतीत करते थे। जिन लोगों

में किंचितन्मात्र भी शुभसंस्कार होता वे ब्रह्मचारी महाराज के प्रभाव से प्रभावान्वित हुये विना नहीं रह सकते थे। पाँच-दश वर्ष त्यागी-जीवन व्यतीत करने के उपरान्त संघ के कार्य में आत्मोत्सर्ग करने को बाध्य हो जाता था।

सब प्रकार के कर्मी का स्थान

ब्रह्मचारी जो महाराज के परिकल्पित जाति गठनमूलक कर्मचक्र में सर्वप्रकार के कर्मी की आवश्यकता थी और है। अतः वे सब प्रकृति के कर्मी को अपनी तपः शक्ति द्वारा आकर्षित करते थे एवं जिससे जितना हो सकता था उसकी उतनी सेवा सहायता ग्रहण करते थे। असंख्य प्रकार के इन कर्मचारियों को लेकर कभी कभी वे स्वयं तथा उनके सन्यासी ब्रह्मचारीगण विपन्न व विव्रत हो पड़ते थे। ब्रह्मचारी जी के एक पत्र में देखा जात। है–".....संघ की तपःशक्ति के आकर्षण से कितने स्थानों से शतशत प्रकार के लोग आयेंगे। स्वार्थ की हानि होने के कारण उनके स्वजन, सम्बन्धी व मित्रवर्ग उन्माद की भाँति कितना ही प्रलाप करेंगे।.....सर्वनियन्ता ने सघ की परिचालना का भार स्वयं ग्रहण किया है। यहाँ पर कोई छल-चातुरी से संघ को कलुषित करने की चेष्टा करने से व्यर्थ मनोरथ होगा।" यह संघ कोई साधारण आश्रम 'मठ, Congress office या relief centre नहीं है, यथार्थ विवेक-वैराग्यवान मोक्षार्थी के अतिरिक्त यहाँ पर अन्य कोई व्यक्ति धैर्यपूर्वक नहीं रह सकता।"

ब्रह्मचारी जी महाराज की नीति थी कि जिसकों एकबार आश्रय दिया, शतशत अपराध करने पर भी उसको नहीं हटाते थे- जब तक न वह स्वयं ही आश्रय त्याग कर चला जाये। उत्तरकाल में उनके देश व्यापी कर्मयज्ञ

में सहस्रों व्यक्ति सहयोग देते थे। परन्तु अनेक अपराध, त्रुटि, देखने पर भी किसी को वे दूर नहीं करते थे। यद्यपि यहाँ का कठोर संयममूलक वातावरण असह्य होने पर अनेक कर्मी आत्मग्लानि से अभिभूत होकर चले भी गये हैं। उस अवस्था में भी ब्रह्मचारी जी ने आशा, आश्वासन, उत्साह, स्नेह प्रेम द्वारा संशोधन की सर्व प्रकार चेष्टा की थी। वे कभी कभी कहते थे-"जिसका कहीं पर आश्रय नहीं है, हमारे संघ में उसका आश्रय है, जो इस संघ के आश्रय में नहीं रह सकेगा, संसार में कहीं पर उसको आश्रय नहीं मिलेगा।"

कर्मचारी सेवकों के प्रति इतने स्नेह-प्रेम व सहानुभूति से अनुरक्त नेता व हितैषी अन्यत्र कहाँ दिखाई पड़ते हैं? प्रत्येक कर्मी में यह धारणा थी कि वह ही ब्रह्मचारी जी का सबसे प्रिय है। कितनों को तो गर्वपूर्वक कहते हुये भी सुना है-"मैं उनका सबसे प्रिय हूं। मेरे साथ उनका विशेष सम्बन्ध है।'.

संघ का नामकरण व ब्रह्मचारी जी का आचार्य पद ग्रहण

ई० सन् १६२३ की माघी पूर्णिमा उत्सव के पश्चात् विचार-विमर्श के लिये जो सभा बैठी उसमें उनके संघ का नाम भारत सेवाश्रम संघ रखा गया। संघ के आदर्श, उद्देश्य तथा कर्मपद्धति इत्यादि के विषय में जो नियम व सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये उसमें ब्रह्मचारी जी के शुभ नाम के पूर्व "आचार्य" शब्द युक्त करने के लिये उन्होंने स्वयं ही आदेश करते हुये कहा-"आजकल सभी कोई संघ, समिति, आश्रम, मठ बना रहे हैं। मेरा

संघ होगा दूसरा बुद्ध का संघ। मैं समग्र देश को बुद्ध-शंकर व चैतन्य की भाँति नवीन आदर्श रथा तपःशक्ति से संजीवित करना चाहता हूं।

"स्वयं आचरण करके जो शिक्षा देते हैं वही आचार्य हैं। इस युग में व्यक्ति-समाज तथा जाति के लिये जो कुछ कल्याणकारी हैं वह मेरी चिन्ता, वाक्य एवं कार्य पद्धति के माध्यम से, मेरे इस अलौकिक व्यक्तित्व से ही स्फुरित व विकसित होगा। गुरु अनेक होते हैं, परन्तु आचार्य युग युग में एक ही आते हैं।"

"भारत सेवाश्रम संघ" नाम निर्वाचन के प्रसंग में उन्होंने यह अभिप्राय प्रगट-किया था—"मैं संघशक्ति सृष्टि करना चाहता हूँ अतः नाम के साथ संघ शक्ति सूचक शब्द रखना चाहिये। समग्र भारत इसका कर्म-क्षेत्र है, भारतीय जातीयता का पुर्नगठन इस संघ का उद्देश्य है अतः भारत शब्द रखना आवश्यक है, सनातन वैदिक आदर्श इस संघ का आधार होगा इसलिये आश्रम शब्द रहना ही चाहिये। जाति-समाज-व्यक्ति की सेवा करना ही इस संघ का उद्देश्य है अतः सेवा शब्द भी रखना महत्त्व-पूर्ण है।

ब्रह्मचारी महाराज का सन्यास ग्रहण

ब्रह्मचारी जी अपने उत्तर साधकों के जीवन गठन की प्राथमिक अवस्था पर ध्यान देते हुये धैर्य पूर्वक उनकी अग्रगति की प्रतीक्षा कर रहे थे। समय को अनुकूल व अवस्था को परिपूर्ण जानकर उन्होंने सन् १९२४ ई० के जनवरी महीने में प्रयागधाम के अर्धकुम्भ मेला में प्रस्थान किया। वहाँ पर स्वामी

गोविन्दानन्द-गिरि नामक सन्यासी गुरु से सन्यास ग्रहण पूर्वक 'आचार्य स्वामी प्रणवानन्द" के नाम से ख्यात हुये। तदुपरान्त उन्होंने पुनः वंग देश में प्रत्यावर्त्तन किया। यहाँ पर दो प्रश्न हो सकते हैं:—

(१) ब्रह्मचारी जी ने संघ स्थापना करने के पूर्व ही सन्यास ग्रहण क्यों नहीं किया ?

(२) अज्ञात-परिचय सन्यासी के निकट उन्होंने क्यों सन्यास ग्रहण किया ?

इस प्रकार के प्रश्नों का प्रसंग कभी नहीं आया, तथापि विचार करने से यह समझ में आता है कि-वे तो नित्यसिद्ध पुरुष थे, आजन्म सन्यास की पूर्ण अवस्था उनके जीवन में जाज्वल्यमान थी। प्रथम अवस्था में ही जब वे योगिराज गम्भीरनाथ जी के पास गये थे तभी उन्होंने कहा था—'-तुम्हारी साधना तो हो ही गई है, दीक्षा की क्या आवश्यकता है ?'' अतः उनके लिये सन्यास ग्रहण-एक लौकिक व शास्त्रीय प्रथा की मर्यादारक्षा करना मात्र था। इसलिये प्रयोजनानुसार उन्होंने ग्रहण किया था। और परिचित मण्डलेश्वर अथवा साम्प्रदायिक गुरु के निकट सन्यास इसलिये नहीं लिया कि—वे वर्त्तमान सन्यासी-सम्प्रदाय की गतानुगतिकता को दूर कर सन्यास के युगोपयोगी आदर्श को पुनः प्रतिष्ठित करने के हेतु नवीन सन्यासी संघ को गठन करने के लिये प्रवृत्त थे। महाप्रभु चैतन्य के जीवन में भी ऐसा ही पाया जाता है। उन्होंने एक जन साधारण सन्यासी के निकट सन्यास ग्रहण किया था। महाप्रभु ने सन्यासिओं के राजा प्रकाशानन्द सरस्वती का संशोधन कर समग्र सन्यासी सम्प्रदाय में एक नवीन प्रेरणा का संचार किया था।

संघ के त्यागी सन्तान गणों का संन्यास

माघीपूर्णिमा के शुभ मुहूर्त्त में समवेत संघ सन्तानों में से पूर्वनिर्दिष्ट कतिपय ब्रह्मचारी सन्यास ग्रहण के लिये प्रस्तुत हुये। शास्त्रीय विधि के अनुसार संयम, उपवास, मुण्डनादि के उपरान्त श्राद्धतर्पणादि सम्पन्न हुआ। वैदिक मंत्र से अग्नि प्रज्ज्वलित कर अग्निहोत्र यज्ञ सम्पन्न कर सबके शिखासूत्र कर्त्तन पूर्वक सबको गैरिकरंजित कौपीन-वर्हिवासादि प्रदान किया। तत्पश्चात् एक एक जन को सिद्धपीठ में बुलाकर सन्यास मन्त्रादिप्रदान पूर्वक सन्यासनाम दिया। सन्यासप्रदान के समय आचार्यदेव ने सन्यासीगण को कहा था—

"मैंने जिनके निकट मस्तक झुकाया है वे बाबा गम्भीरनाथ जी के समान योगैश्वर्यशाली महा पुरुष—जिनकी इच्छा से चन्द्र-सूर्य स्थानान्तरित हो सकते थे—यदि आज वे यहाँ उपस्थित होते तो मैं क्या करने जा रहा हूँ—इसको वे भी समझपाते या नहीं इसमें सन्देह है।"—यह वचन उन्होंने क्यों उच्चारण किये थे यह नहीं पूछा परन्तु हम लोगों ने इतना समझा था कि आचार्य के अलौकिक व्यक्तित्व के विषय में तथा संघ सन्यासियों के जीवन के गुरुत्व व दायित्व के प्रति उन लोगों की धारणा व चिन्ता को ऊर्ध्वमुखी करने के लिये ही उन्होंने यह कहा था। सन्यास प्रदान करने के समय जब प्रत्येक सन्तान को आशीर्वाद कर उन्होंने उनमें योगशक्ति का संचार किया तब उन लोगों ने हृदय में अद्भुत प्रभाव उपलब्ध किया था। किसी एक संघ-सन्यासी के निकट सुना है—आशीर्वाद के समय में तर्जनी, मध्यमा व अनामिका—इन तीन अंगुलियों द्वारा जब आचार्यदेव में उनका मस्तक स्पर्श किया तब मेरुदण्ड के मध्य में मानों वैद्युतिक तरंग सञ्चारित हुआ—साथ ही साथ दीर्घकाल का

अन्तर्द्वन्द्व-संशय सन्देह, अविश्वास-तर्क-युक्ति का वेग स्तब्धप्राय होकर--मनोवृत्ति आचार्य के नितान्त भावानुकूल हो उठी ।

उसी शुभदिन में स्वर्गीय महात्मा भोलानंदगिरि महाराज ने बाजिपुर आश्रम में शुभ पदार्पण किया । आचार्यदेव के अभीष्ट नवयुग के आदर्श सन्यासि-संघ का शिलारोपण हुआ ।

जन-सेवा को

धर्म सेवा व समाज-सेवा का रूपदान

सेवा का व्यापकरूप

गोमुखी-गह्वर-नितांत क्षीण जान्हवी धारा सागरोन्मुख अग्रसर होती हुई असंख्य निर्झर धाराओं द्वारा परिपुष्ट व परिवर्द्धित होकर उपनदियों के प्रवाह से युक्त होती हुई विशाल भागीरथी के रूप में प्रवाहित हो रही है। ब्रह्मचारी जी के हृदय-गोमुखी से निकली हुई भागवती करुणा-धारा जीव सेवा के उपकूलों को प्लावित कर कमशः समाज सेवा के व्यापकतर क्षेत्र में उच्छ्वसित रूप से प्रवाहित हुई।

'सेवा' के विषय में लोगों की साधारण धारणा है–दुर्भिक्ष,जलप्लावन महामारी, भूमिकम्प इत्यादि दैव दुर्विपाक से पीड़ित नरनारियों को अन्न, वस्त्र, अर्थ औषधादि देकर सहायता करना। रामकृष्ण मिशन की "नर-नारायण सेवा" व "दरिद्रनारायण सेवा" ने जनसाधारण के हृदय में सेवा के विषय में उपरोक्त धारणा को अंकित किया है।

परन्तु मनुष्य शब्द से क्या केवल शरीर से ही तात्पर्य है ? सम्पूर्ण मनुष्य के अर्न्तगत-देह, मन, बुद्धि व जीवात्मा का समावेश है। अतः अन्नवस्त्रादि द्वारा मनुष्य की सहायता करना सेवा का आंशिक रूप है।मनुष्य की सर्वांगीन

सेवा तभी होती है जब उसके दैहिक अभाव की पूर्ति के साथ साथ उसके मन, बुद्धि व आत्मा के विकास, तृप्ति व मुक्ति की व्यवस्था की जाय।

मनुष्य जीवन का एक व्यक्तिगत क्षेत्र है, साथ ही उसके जीवन के पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक व राष्ट्रीय-विभिन्न क्षेत्र हैं। केवल मात्र मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन की शिक्षा-दीक्षा व कर्त्तव्यबोध को जाग्रत करने से सेवा का कार्य पूर्ण नहीं होता, परन्तु पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक व राष्ट्रीय जीवन की सेवा भी अत्यावश्यक है।

आगे चलकर हम लोग देखेंगे कि-किस प्रकार संघ-नेता आचार्यदेव ने जनसेवा को धार्मिक व सामाजिक सेवा का रूप दान किया था तथा दैहिक सेवा के साथ जाति की मनोबुद्धि-आत्मा की सेवा की व्यवस्था की थी। सेवा के आदर्श को सार्वजनीन व सार्वभौमिक रूप देकर जन सेवा को समाज सेवा की आकृति प्रदान करना—संघनेता आचार्यदेव का अनन्य साधारण अवदान है। प्रस्तुत अध्याय में हम लोग इसी का दिग्दर्शन करेंगे।

संघ का कर्म विस्तार

ई० सन् १६२२ की जुलाई में मदारीपुर में बाढ़ आई। स्थानीय नेताओं तथा कलकत्ता के विशिष्ट व्यक्तियों की सहायता से आचार्यदेव ने दीर्घकालव्यापी सेवा कार्य की व्यवस्था की। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र उस अञ्चल को देखने आये थे। अनेक युवकों ने इस सेवाकार्य में भाग लिया, उनमें से कुछ युवकों ने आचार्यदेव के ओजस्वी उपदेश व त्यागमय जीवन से प्रेरणा प्राप्त कर त्याग व्रत स्वीकार पूर्वक संघ का आश्रय ग्रहण किया।

संघ का कर्म क्षेत्र व कार्यावली द्रुतगति से बढ़ना गया। संघ के सन्यासी व कर्मीगण दायित्व ग्रहण पूर्वक नव-नव कर्म की सूचना करने लगे।

ई० सन् १६२२-२३ में सुन्दरवन विभाग के ग्राम-संगठन-कार्य ने सभी की दृष्टि आकर्षण व प्रशंसा प्राप्त की। ई० सन् १६२४ की जनवरी में आचार्यदेव ने प्रयागधाम के अर्द्धकुम्भ मेले में गमन किया। सन्यासी सम्प्रदाय में समाज सेवा का आदर्श व दायित्व ग्रहण करने की प्रेरणा दान करना उनका मुख्य उद्देश्य था।

गया सेवाश्रम

ई० सन् १६२४ में आचार्यदेव ने संघ के विख्यात "गया सेवाश्रम" की प्रतिष्ठा की इस समय गया के पण्डों का यात्रियों के ऊपर अत्यधिक अत्याचार चल रहा था। कुछ यात्रियों पर अमानुषिक अत्याचार हुआ तथा एक महिला यात्री की हत्या हुई। स्थानीय विशिष्ट व्यक्तियों के अधिवेशन में गृहीत प्रस्ताव के अनुसार संवाद पत्रों में यह अत्याचार-घटना प्रकाशित हुई तथा इसके प्रतिकार के लिये जन-हितकर संस्थाओं से आवेदन किया गया।

आचार्यदेव तो पूर्व से ही संकल्पित थे। इस आह्वान को पाते ही उन्होंने स्थानीय व्यक्तियों की सहायता से 'गया सेवाश्रम' की स्थापना की। पण्डाओं के अत्याचार को निवारण करना इसका मुख्य उद्देश्य होने पर भी इसको कर्म पद्धति कभी भी हिंसात्मक या विदेष पूर्णरूप से अग्रसर नहीं हुई। इस विषय में आचार्य देव का कहना था कि—राजनैतिक चातुरीपूर्ण पंथा से कभी धर्मस्थान या तीर्थस्थान का संस्कार नहीं हो सकता, प्रत्युत कोई धर्म-प्रतिष्ठान यदि आपद-विपद में निःस्वार्थ भाव से यात्रियों की रक्षा व सेवा करे, व देशवासी तथा राजा, जमीदार इत्यादि इस सेवा को समझकर सहयोगिता प्रदान करें तो कार्य हो सकता है।

उस समय के अनेक समाचार पत्रों में संघ की इस निस्वार्थ सेवा व संगठन मूलक कर्म पद्धति की प्रशंसा प्रकाशित होती थी। गया सेवाश्रम का मूल उद्देश्य केवल यात्रियों की देखरेख ही नहीं है परन्तु तीर्थ का संस्कार है। तीर्थ स्थान में अनेक शताब्दियों के अत्याचार व व्यभिचार के कलुषित वातावरण को शुद्ध कर पवित्र धार्मिक वातावरण की प्रतिष्ठा करना—वह भी संवाद पत्रों के सम्पादकीय स्तम्भों में प्रकाशित हुआ था। आज गया सेवाश्रम समग्र हिन्दू जाति का निरापद आश्रय स्थल है। पण्डाओं का भी उससे अब कोई विरोध नहीं है, वे संघ की सहानु-भूति व शासन पाकर उचित मार्ग पर चलते हैं।

चारण दल या प्रचारक मण्डली

ई० सन् १९२३—२४ इन दो वर्षों में संघ के अनेक स्थायी आश्रम व प्रतिष्ठान स्थापित हुये तथा नानाप्रकार के कार्य द्रुतगति से अग्रसर होने के कारण संघ में प्रचुर अर्थागम के उपाय को निर्धारण करना अत्यावश्यक हो गया। अभी तक मासिक चन्दा व साधारण रूप से मुष्टिभिक्षा व अर्थ संग्रह से ही काम चलता था। परन्तु अब उससे इतना व्यापक कार्य सम्पादित होना सम्भव नहीं था। आचार्यदेव ने नवीन पथ प्रवर्त्तन किया।

संघ के सन्यासी, ब्रह्मचारी व कर्मीगण के साथ परिचित बालक, युवक व विद्यार्थीगण को मिलाकर आचार्य देव ने "चारणदल" या प्रचारक मण्डली की सृष्टि की। इनके साथ वाद्यन्त्र इत्यादि रहता था तथा वे भजन, कीर्त्तन, देश,प्रेम, व स्वधर्म गौरव के गान गाते हुये, सन्यासीगण संघ की कार्यावली के विज्ञापन दिखाते हुये सभी से अर्थसंग्रह करते थे। पहले दो, दल गठित हुये, क्रमश: इस प्रकार की दस मण्डलियाँ हुईं—जिससे समस्त

भारत के ग्रामों तथा शहरों में एवं सुदूर ब्रह्मदेश, मलाया, सिंगापुर, तक सनातन हिन्दू धर्म का प्रचार किया गया और बाद में पूर्व अफ्रीका, ट्रिनिदाद ब्रिटिशवेस्टइन्डीज इत्यादि अनेक स्थानों में प्रचार व स्थायी आश्रमो की प्रतिष्ठाहुई है।

अर्थसंग्रह का उपाय व चारणदल का उद्देश्य

अर्थसंग्रह के उपाय स्वरूप ही इन प्रचारक-मण्डलियों का गठन हुआ तथापि इनका वास्तविक उद्देश्य अत्यन्त व्यापक व गहरा था। इन चारण दलों के माध्यमसे ही समग्र देश के जनसाधारण के पास संघका भाव, आदर्श व प्रभाव द्रुतगति से प्रचारित हो रहा था, जिसके कारण किसी "धन कुबेर" के द्वार पर 'धन्ना' न देकर भी समस्त जन-साधारण की स्वेच्छा व सहानुभूति प्रदत्त अर्थ व मुष्टिभिक्षा से स्वतन्त्ररूप से संघ के आदर्श, उद्देश्य नीति व कर्मपद्धति को अक्षुण्ण रखते हुये धर्म-प्रचार, समाज-सेवा, शिक्षा प्रचार, तीर्थ-संस्कार व जातिगटनमूलक कार्यावली साधित हो रही है !

यह'चारण दल' संघनेता आचार्य देव की संघठनी प्रतिभा का अपूर्व अवदान है:—

(क) यह धर्मविस्तार व आदर्श प्रचार करने की धारावाहिक प्रणालीबद्ध पद्धति है।

(ख) सन्यासी, ब्रह्मचारी व कर्मीगण के इस समूह-जीवन पद्धति द्वारा एकाकी जीवन के विपद, स्खलन व प्रलोभनो से सर्वदा सुरक्षा होती रहती है।

(ग) 'चारणदल' मानो जंगम (चलमान) आश्रम है, त्यागी सन्यासी

ब्रह्मचारी व सेवक कर्मीगण जैसे आश्रम में पवित्र व नियमित जीवन यापन करते हैं, वैसे ही चारणदल में भी त्रिसंध्या पूजा-आरती, भजन, कीर्त्तन जप-ध्यानादि अनुष्ठान द्वारा पवित्र वातावरण में आध्यात्मिक जीवन की उन्नति-साधन व जनसेवा करते रहते हैं। यहाँ पर आत्मानुशीलन (Self culture) एवं निष्काम-कर्मयोग (Selfless Service) दोनों का समन्वय है।

(घ) अल्प समय के अन्दर कोई वृहत्अनुष्ठान करना, चारणदल की सहायता से सहज होता है, यही सघ के स्थायी कर्मी हैं, सर्वदा सर्व कार्य के लिये प्रस्तुत हैं। देश के किसी भी प्रान्त में कोई भी दैवदुर्विपाक हो, इनको सम्मिलितकर व्यापक रूप से सेवा की जा सकती है।

(ङ.) यह 'चारणदल' समग्र देश के शहरों तथा गाँवों में संघ के आदर्श का प्रचार व अर्थ-सग्रह करते हैं—इससे संघ, व संघनेता के साथ देश के जनसाधारण का योग स्थापित रहता है। इससे गण-संगठन की भित्तिसुदृढ़ हो रही है।

इस प्रकार विचार करने से यह ज्ञात होता है कि—एकमात्र चारण दल के माध्यम से ही आचार्यदेव ने—सन्यासी व त्यागी कर्मीगण का जीवन गठन, धर्मभाव विस्तार, आदर्श प्रचार, कर्मीगण के जीवन के कर्मप्रवाह की रक्षा, अर्थसंग्रह, जन-साधारण के साथ संघका अविच्छेद्य सम्बंध संस्थापन इत्यादि अनेक उद्देश्य साधित किये हैं। परवर्त्तीकाल में वे सन्यासिओं को कहा करते थे "यह चारणदल ही संघ का जीवन है, आज संघ जो इतना विस्तृत व प्रभाव शाली तथा जन-प्रिय हुआ है—उसका एक मात्र कारण यह चारणदल (Procession party) हैं। इनको छोड़ने से संघ एक दिन में ही प्राण हीन हो जायेगा।"

उड़ीसा में कर्मविस्तार व पुरी सेवाश्रम

ई० सन् १८२५ में उड़ीसा के पुरी जिला में जलप्लावन व दुर्भिक्ष हुआ। आचार्यदेव ने स्वयं उसका परिदर्शन कर दीर्घकाल व्यापी स्थायी सेवा की व्यवस्था की। उस समय उड़ीसाके जनप्रिय श्रेष्ठ नेता स्वर्गीय गोपबन्धुदास ने संघ के सेवा व संगठन-कार्य में विशेष सहानुभूति व सहायता की। अतः ई० सन् १८२६ में 'पुरीसेवाश्रम' के नामसे यह इस तीर्थ संस्कार केन्द्र की प्रतिष्ठा हुई। तब से अद्यावधि प्रतिवर्ष रथयात्रा के समय यात्रियों की अनेक प्रकार से सेवा की जाती है।

इस प्रकार क्रमशः बंगाल एवं उत्तर भारत के विभिन्न प्रान्तों में सेवा-कार्य वर्द्धित होता गया। कलकत्ता कार्यालय में भी आचार्यदेव ने 'संघ सेवक सम्मिलनी' की प्रतिष्ठा की। प्रत्येक रवीवार को इसका अधिवेशन होता था। बालक व युवकगण को नैतिक जीवन गठनोपयोगी शिक्षा-दीक्षा का संकल्प लेकर ही आचार्यदेव ने इसका सूत्रपात किया।

उत्तर प्रदेश में कर्मविस्तार व काशीतीर्थ सेवाश्रम

ई० सन १८२६ में आचार्य देव ने काशीतीर्थ सेवाश्रम की प्रतिष्ठा की तथा वहाँ के विख्यात अन्नकूट मेले में सेवा की व्यापक व्यवस्था की, तब से प्रतिवर्ष यह कार्य संघ की ओर से हो रहा है। इसी वर्ष गंगा व सोन के संगमक्षेत्र में हरिहर क्षेत्र के मेले मेंभी यात्रियों की सेवा की व्यवस्था हुई, और प्रतिवर्ष की जाती है। क्रमशः संघ के स्थायी केन्द्रों के वार्षिक महोत्सव-सम्मेलन—बाजितपुर में माघी, पूर्णिमा, मदारीपुर में वैशाखीपूर्णिमा खुलना आश्रम में रासपूर्णिमा (कार्तिक पूर्णिमा), आशाशुनी आश्रम में होली की पूर्णिमा, और राजसाही में सरस्वती पूजा का विराट् समारोह प्रतिवत्सर होता आया है।

स्मरण रखने की बात है कि इन सभी साधारण तथा व्यापक कार्य के लिये आचार्यदेव साक्षात् रूप से आदेश-निर्देश देते थे । तथा प्रत्येक पैसा उनके हाथ से हो व्यय होता था । इस समय से जीवन के अन्तिमक्षण तक (१६४० के दिसम्बर) वे अतन्द्ररूप से देश-जाति व समाज के कल्याणार्थ अविरत कर्म व आशीर्वाद करते रहे ।

आचार्यवरण

व

संघ की अध्यात्म-साधना का प्रारम्भ

बीज में शक्ति है—यह तथ्य सत्य है, परन्तु योग्य क्षेत्र के न होने से बीज का अंकुरित होना दुष्कर होता है, और यदि अंकुर का उद्‌गम हुआ भी तो उसकी वृद्धि व्याहत होती है, कदाचित् यदि वृद्धि हुई तो भी सुस्वादु व परिपक्व फल की उपलब्धि नहीं हो सकती। संघनेता आचार्यदेव भगवन्निर्देश से कर्म क्षेत्र में अवतीर्ण होने पर भी अपने भाव व शक्तिप्रकाश के योग्य आधार तथा अनुकूल पारिपार्श्विक वातावरण के प्रस्तुत न होने तक उन्हें धैर्य पूर्वक समय की प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। इस कार्य के लिये उनको कितना कष्ट उल्झन तथा अपमान सहन करना पड़ा था—उसका उनके अन्तरंग सन्यासी सन्तानों के अतिरिक्त दूसरों के लिये कल्पना करना भी असंभव है। अपने अभीष्ट त्यागी-सन्तानों की विचार-मूढ़ता तथा अश्रद्धा से व्यथित होकर कभी कभी वे कह उठते थे—"तुम सब चले जाओ। मुझे किसी की भी आवश्यकता नहीं है। मेरे प्रति जो आदेश है वह मैं मिट्टी के पुतलों में भी प्राण-संचार करके पूर्ण कर लूंगा।"

उनके विशाल कर्म-प्रवाह की ओर ध्यान देने से देखा जाता है अनुभूति हीन जड़-व्यक्ति में भी अपनी शक्ति व भाव संचारित कर व असम्भव को सम्भव

करा गये हैं। परन्तु अनेक जन्मों के कर्मफल वशात् जब मनुष्य नितान्त जड़त्व को प्राप्त होता है और उसमें आचार्य के प्रति उन्मुख व भावग्राही होने की शक्ति का सम्पूर्णतया अभाव हो जाता हैं तब साक्षात् भगवान को भी वह कुछ नही समझ पाता और उसकी इस जड़ता पर भागवत् व्यक्तित्व का किंचिन्मात्र भी प्रतिबिम्ब पड़ना असंभव सा हो जाता है। ऐसे ही एक संतान में धर्मभाव जाग्रत करने की चेष्टा से बारम्बार व्यर्थकाम होने पर आचार्यदेव ने कहा था—"मैं पाषाण को भी विगलित कर सकता हूँ, परन्तु उसके हृदय पर इन आठ वर्षों में एक भी रेखा न खींच सका।"

योग्यपात्र व अनुकूल परिस्थिति का गठन

किसी एक चंचलचित्त संघ सन्तातान को निर्दिष्ट कल्याणकारी पथ पर स्थित रखने के लिये अनेक चेष्टा व उपाय कर रहे हैं—"जिस स्थान पर तुम हो उसी को हिमालय की गुफा मानकर रहना पड़ेगा। धैर्य पूर्वक चलते रहो। प्रतिदिन कितने घण्टे तक साधन-भजन करते हो! जितना करते हो उतना गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिये पर्याप्त है या नहीं ? यह विचार करना" —संघगीता

मानसिक द्वन्द से विक्षुब्ध हुये सन्तान को आश्वासन दे रहे हैं-"अज्ञानता वश आज तुम लोग अपने शक्ति सामर्थ्य का अनुमान नहीं कर पा रहे हो। धैर्य रखो! इस प्रकार विचित्र परिस्थितियों से अग्रसर होते हुये ही मनुष्य वास्तविक उन्नति को प्राप्त करता है।..... ..... स्वं. विजयकृष्ण-गोस्वामी के मन में भी एक दिन ऐसी दुर्बलता आई थी कि वे आत्म हत्या करने के लिये उद्यत हुये थे।..... ..... उसके पश्चात् उन्होंने देखा कि उनकी बहुत कुछ दुर्बलता विदूरित हो गई।"

व्याधिग्रस्त विव्रत सन्तान में सविचार जाग्रत करने के लिये उन्होंने ने सुनाया—"शारीरिक व्याधि के प्रति विशेष चिन्ता न करना, यह व्याधि नहीं उग्रतपस्या है। इस महान परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर ही तुम्हारी उन्नति निर्भर करती है।"

—संघगीता

आत्म-विस्मृत तथा हठीले सन्तान के पुनः पुनः अनेक अपराध क्षमा कर उसे संशोधन कर देने के लिये कितनी आन्तरिकता पूर्वक प्रयत्न करते थे—"जो तुम्हारे यथा सर्वस्व हैं, अन्तिम में, चरम-परिणाम में जो तुम्हारे एकमात्र आश्रय हैं, जिनकी शरण में आकर त्रिताप दग्ध-मन-प्राण को शीतल करोगे — उन्हीं परम आत्मीय, अपने जन को त्यागकर रिपु व इन्द्रिय के आधीन होकर एक साधारण व्यक्ति—जिससे तुमको किसी प्रकार की सहायता नहीं प्राप्त हो सकती—उसकी चिन्ता लेकर समय व्यतीत करने से कैसे चल सकता है!"

और एक विपथगामी सन्तान को अभीष्ट कल्याण के पथ पर स्थित रखने के लिये किस प्रकार प्रयत्न कर रहे हैं—"दिन पर दिन, सप्ताह पर सप्ताह, मास पर मास व्यतीत हो गया फिर भी माया का आवरण, मोह का बन्धन छिन्न नहीं हुआ और कितने दिन इस प्रकार रिपु-इन्द्रिय, कामना, वासना के वशीभूत होकर जीवन-जन्म को नष्ट करोगे? वे सब महाशत्रु, मित्र रूप में आकर तुम्हारा सर्वनाश करने की चेष्टा कर रहेहैं। हठ व स्वेच्छाचारिता को त्यागकर अपने अमूल्य जीवन की रक्षा करो। तुम्हारी बुद्धि व विचार अभी तक नितान्त अपरिपक्व हैं। जब तक तुम में विवेक-वैराग्य की प्रतिष्ठा नहीं होती, तब तक तुम्हारी बुद्धि व विचार का कोई मूल्य ही नहीं है।"

'इन सब कथन के उपरान्त भी तुम्हारे मन में यह विचार आ सकता है–जो व्यक्ति मुझे निषेध कर रहा है–वह कौन है ? वह भविष्य वेत्ता है या नहीं ? क्या वह प्रज्ञा दृष्टि सम्पन्न है ? वह सिद्ध समाहित है या नहीं ? परन्तु जिसकी निषेध वाणी की अवज्ञा कर स्वच्छन्दापूर्वक अन्यत्र जाने के लिये प्रस्तुत हो–कोई भी सिद्ध-समाहित-महापुरुष उनका आदेश अमान्य करने का साहस करता या नहीं–इसमें सन्देह है। जब तक तुम बालक की भाँति Blind follower रहे तब तक तुम सुख और शान्ति में थे, जब से तुम्हारे मन में यह विचार आया कि तुम अब Blind follower नहीं हो, तुम्हारा भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है, तब से ही तुम्हारे में अनेक दुर्बलतायें आ रही हैं। सिद्ध समाहित महापुरुष के समक्ष साधारण मनुष्य का क्या व्यक्तित्व है ? कितनी बार कितने अवसरों पर कितने प्रकार से पतित हुये थे. जिससे मुक्त होना सम्पूर्णतयाः असम्भव था–उस समय संघनेता ही तुम्हारे एकमात्र रक्षक तथा परित्राता थे। संघनेता के आदेश व वाणी को सर्वनियन्ता का आदेश व वाणी समझ कर ग्रहण करना पड़ेगा।.....जिस समय तुम्हारे मन में यह विचार आयेगा कि संघ या संघनेता के साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है-उसी समय असंख्य दुर्बलतायें आकर तुम को विपन्न कर डालेंगी।"

"मैं तुम लोगों का परम आत्मीय हूँ, मेरे साथ चातुरी या प्रवञ्चना करना क्या उचित है ? तुम लोग कुछ भी करो, मुझसे जितना सम्भव होगा, मैं अवश्य ही करूंगा। मैं तुमलोगों का सब कुछ जान व समझ सकता हूँ। परन्तु तुम लोगों की मैं सहायता कर सकूँ–इस स्थिति में आना चाहिये.....

अपना हठ त्यागकर प्रदर्शित मार्ग पर चलने के लिये प्रयत्न करो·····अपनी बुद्धि के अनुसार चलने से सर्वनाश होगा। —संघगीता

और एक पथ-भ्रष्ट सन्तान को मार्ग पर लाने के लिये अनेक प्रकार की चेष्टा की थी—"तुम जिनकी शरण में हो उनपर तुम्हारी श्रद्धा का नितांत अभाव है।·····तुम्हारी मानसिक चंचलता इतनी अधिक हो गयी है कि तुम अपने को संघनेता का आशीर्वाद लाभ करने का सुयोग नहीं देरहे हो।

"आज तक मैंने जितने व्यक्तियों के जीवन का दायित्व ग्रहण किया है-वे लोग मेरे निकट रहें या दूर, कहीं पर भी क्यों न रहें-उनकी सब परिस्थिति मुझे विशेष रूप से सदा देखनी पड़ती है। यहाँ पर कोई किसी प्रकार की चातुरी, प्रवंचना या मिथ्याचार से कुछ नहीं कर सकता। उन सबके भूत एवं भावी जीवन की व्यवस्था का भार मुझ पर है।"

—संघ गीता।

आचार्यदेव का कठोर दायित्व

संघ का विराट् कर्मप्रवाह-बहुमुखी तथा जटिल है। उस विशाल कर्म चक्र का सम्पूर्ण दायित्व व कर्तृत्व आचार्य के ऊपर ही था। तदुपरान्त मानव कल्याण के लिये देश-जाति-समाज की उन्नति, शान्ति तथा मुक्ति के लिये जिस "धर्मचक्र" के प्रवर्त्तन का संकल्प था उस "धर्मचक्र" के अवलम्बन स्वरूप सब त्यागी, अनुरागी शिष्य-सन्यासी-ब्रह्मचारी, कर्मीगण के शारीरिक, मानसिक, नैतिक व आध्यात्मिक जीवन गठन का सम्पूर्ण दायित्व भी आचार्यदेव

पर था । दिन रात्रि में उनको लेशमात्र भी अवकाश नहीं था । विपरीत प्रकृति वाले एवं जटिल संस्कार पूर्ण शतशत बालकों व युवकों को अपने अनुकूल भाव में गठन करना एवं सब दोष, त्रुटि, अपराध उपेक्षा कर, सबका आग्रह, अनुरोध, आकांक्षा पूर्ण, कर स्नेह-प्रेम, उत्साह आनन्द से अभिभूत करतेहुये प्रतिनियत उन्हें कर्मप्रवाह में संलग्न रखना कितना विलक्षण कार्य था यह हम लोगों की कल्पना के अतीत है ।

युद्धविजय से भी मनोजय सहस्रगुण अधिक दुस्साध्य वस्तु है । पृथ्वी के साम्राज्य पर राजत्व-विस्तार करने की तुलना में असंख्य मनुष्य के हृदय साम्राज्य का अधीश्वर होना लाखोंगुण अधिक दुष्कर है। देशव्यापी कर्म-साम्राज्य विस्तार के साथ साथ कोटि कोटि नर-नारी के हृदय-राज्य में आधिपत्य प्रतिष्ठा का आयोजन चल रहा था । जिन लोगों का अवलम्बन लेकर आचार्यदेव यह अलौकिक कार्य साधन करेंगे—उनकी लीला के सहायक रूप, उन सब सन्यासी को अपने जीवन के आदर्श अनुसार गठन करने के लिये वे अति व्याकुल भाव से प्रबल प्रयास कर रहे थे ।

संघ सन्तानों के हृदय पर आधिपत्य विस्तार

ई० सन् १६२४ में माघी पूर्णिमा के समय सन्यास ग्रहण कर संघ सन्तानगण विभिन्न कर्मक्षेत्र में चले गये । परन्तु नवीन सन्यासियों के अन्तर में अज्ञात भाव से विशेष परिवर्त्तन सूचित हो रहा था । आचार्यदेव संघ सन्तानों के अन्तर में प्रवेश करने के लिये समय और सुयोग की प्रतीक्षा कर रहे थे। संघ सन्तानगण अपने अपने संस्कार के अनुसार चलते २ उनके अमोघ

प्रभाव से उनके ही भाव के अनुकूल बनने लगे। क्रमशः इसका आभास उज्ज्वलतर होता गया।

जगद्गुरु के रूप में आत्मप्रकाश

इस समय से साधारण घटनाओं के माध्यम से ही आचार्यदेव का अलौकिक महत्त्व प्रकाशित होने लगा। वे सर्वज्ञ, अन्तर्यामी तथा अलौकिक शक्ति सम्पन्न हैं, इस विषय में एकाधिक प्रमाण व अनुभव प्राप्त होने लगे। एक परम ॐ शुभ दिवस में जगद्गुरु आचार्य रूप में आत्मप्रकाश कर आचार्य देव ने भक्त सन्तानो की पूजा का अर्घ्य-ग्रहण किया आचार्य-वरण के दिन से आचार्यदेव में भाव का अपूर्व परिवर्त्तन लक्षित हुआ। इसके पूर्व तक उनके प्रति बाह्यतः गुरु-शिष्य-सम्बन्ध नहीं था। अन्तर में उनके प्रति श्रद्धाभक्ति विश्वास रहने पर भी बाह्य आचरण में किसी प्रकार के क्रिया या अनुष्ठान द्वारा वह सूचित नहीं हुआ था। इसका कारण यही था कि तत्कालीन समाज में गुरु-शिष्य-सम्बन्ध, गुरु भक्ति या गुरु सेवा का जो गतानुगतिक स्वरूप हम लोग देख रहे थे उससे कुछ अधिक हम लोगों को ज्ञात भी नहीं था।

* ———————————————————

ई० सन् १६२४ की रासपूर्णिमा ने संघ के इतिहास में एक नवीन युग कीं सूचना की। इसी दिन आचार्यदेव ने सर्व प्रथम जगद्गुरु रूप में आत्म-प्रकाश कर संघ सतानों की पूजा का अर्घ्य ग्रहण किया। एक सन्यासी की आत्म कथा से प्राप्त है—"उन दिनों निद्रा का तो नाम ही नही था, रासपूर्णिमा की पूर्वरात्रि को अनेक प्रयत्न करने पर भी निन्द्रादेवी ने कृपा नहीं की।

आरती के आसन पर त्रिशूलधारी आचार्यदेव

गुरु-शिष्य-सम्बन्ध की प्रतिष्ठा

आचार्यदेव ने गुरु-रूप में आत्म-प्रकाश कर सर्वप्रथम गुरु-शिष्य सम्बन्ध की प्रतिष्ठा करना चाहा। उन्होंने आदर्श गुरु का पूर्णस्वरूप प्रकाशित कर संघ-सन्तानों को आदर्श शिष्य रूप में गठन करने का पूर्ण प्रयत्न किया। परन्तु प्रत्यक्ष आदेश से वे कदापि कुछ नहीं सिखाते थे। उनका अभिप्राय यह था कि—संघ सन्तानगण उनके संकल्प को हृदय में अनुभव कर, चिन्ता, वाक्य व कार्य में उसको कार्यान्वित करें। अनेक वर्षों के उपरान्त एकदा वार्तालाप के क्रम में उन्होंने कहा था—"देश में आज नास्तिकता, अविश्वास, अश्रद्धा, अभक्ति का युग है। जहाँश्रद्धा नहीं है वहाँ कुछ नह रह सकता। इस श्रद्धा की जागरण त्र प्रतिष्ठा परम आवश्यक है। इसलिये गुरु पूजा का अनुष्ठान व्यापकरूप से प्रचार करना चाहिये। 'गुरुवाद' के प्रचार से 'गुरु-शिष्य' सम्बन्ध की प्रतिष्ठा होगी। आज देश से आदर्श गुरु-शिष्य सम्बन्ध विलुप्त प्रायः है। जों कुछ गतानुगतिक

---

*समस्त रात्रि अद्भुत दर्शन होने लगा। अवर्णनीय भावाभेष में रात्रि व्यतीत हुई। नेत्रों के सन्मुख अपूर्व दृश्य था—अनन्त आकाश में ज्योति का अपार समुद्र है। शनैः शनैः चतुर्दिक से विभिन्न प्रकार के देव देवियों की मूर्तियाँ बुद्बुद् की भाँति दृश्यमान होने लगीं। उसके केन्द्रस्थल में ज्योति मण्डल के मध्य में प्रणव-ॐकार के मध्य-अचार्यदेव प्रकाशित हुये। मुख कमल में स्नेह

भाव है वह विकृत और आडम्बर मात्र है। अतः आज गुरुजनों के प्रति भक्ति नहीं है, ज्येष्ठ या श्रेष्ठ के प्रति श्रद्धा नहीं है, शास्त्र या महापुरुष के साथ विश्वास या मर्यादा बोध नहीं है। सर्वत्र घोर उच्छृङ्खलता वअनाचार है। मैं देश व जाति में जिस आदर्श व शिक्षा, साधना की प्रतिष्ठा करना चाहता हूँ उसका क्षेत्र प्रस्तुत करने के लिये सर्व-प्रथम गुरु-शिष्य सम्बन्ध की प्रतिष्ठा परम आवश्यक है। आज वैदिक भारत के गुरु-गृह के उस पवित्र व आदर्श गुरु-शिष्य के अलौकिक, आध्यात्मिक सम्बन्ध की प्रतिष्ठा सर्व प्रथम प्रयोजनीय है। क्षेत्र प्रस्तुत न होने से क्या अपने महाशक्ति व महाभाव के बीज को शून्य में बोऊँगा ? लोग क्या समझते हैं ? क्या जानते हैं ? जिससे देश व जाति का वास्तविक कल्याण होगा मुझे वही करना है।"

अग्नि तापरूप में सभी स्थान में विद्यमान है, परन्तु उससे काम लेने के लिये जहाँ पर अग्नि प्रज्वलित है उस चूल्हे या दीपक की सहायता लेनी पड़ेगी। विद्युत की शक्ति सर्वत्र है, उस विद्युतशक्ति से काम लेना हो तो बिजलीघर (Electric power house) से सम्बन्ध स्थापन करना आवश्यक है। इसी प्रकार भगवत्-शक्ति जगत् के अणु-परमाणु में विद्यमान

---

*वात्सल्यमयी सुषमा का प्रकाश, नयनोत्पलों में अमृतमयी करुणा दृष्टि तथा उत्तोलित उभय श्री कर कमलों में वराभय है। चारों ओर से असंख्य देवदेवी प्रार्थनारत हैं। प्रतीत होने लगा भागवती करुणा व आशीर्वाद की मूर्ति धारण कर वे इस मर्त्यलोक में अवतरण कर रहे हैं। हम लोग इस संसार के मनुष्य उनको वरण करने के लिये प्रस्तुत हैं।

है, परन्तु उस सर्वव्यापिनी शक्ति को प्राप्त या प्रगट करना हो तो भगवत् शक्ति की मूर्त्ति आचार्य के साथ सर्वप्रकार से युक्त होना नितांत अपरिहार्य है।

आचार्यदेव कहते थे–"मैं तो सदा ही सहायता करने के लिये प्रस्तुत हूँ। मेरी ओर एक पद अग्रसर होने से मैं सौपद चल कर उसे ग्रहण व आशीर्वाद कर सकता हूँ। परन्तु उस स्थिति में नहीं आने से मैं कुछ नहीं कर सकता। जो जिस मात्रा में श्रद्धा-भक्ति-भाव-निष्ठा के साथ गुरुमुखो होकर रहेगा, मेरी तपशक्ति व तप प्रभाव उसी परिमाण में उसमें संचारित होगा।"

पहले ही कहा गया है कि आचार्यदेव की शिक्षा पद्धति परोक्षरीति (Indirect Method) को थी। वे जो कुछ प्रतिष्ठा करना चाहते थे उसके विषय में कुछ नहीं कहते थे। अलक्षित रूप से ऐसी परिस्थिति का सृजन करते थे कि शिक्षार्थी के अन्तर में स्वतः ही तदनुकूल बुद्धि विचार व

---

*प्रातःकाल अन्य सन्यासी भ्राता को इस अपूर्व दर्शन व अनुभूति के विषय में सुनाया तथा पुण्या रासिपूर्णिमा की रात्रि में आचार्यदेव को वरण व उनकी पूजार्चना करने के लिये निश्चय किया। आचार्यदेव की भी यही आन्तरिक इच्छा थी। उनके महान संकल्प ने ही मेरे अन्तर में इस दर्शन व अनुभूति का संचार किया था। उन्होंने भी आनन्द पूर्वक आत्म प्रकाश कर

प्रेरणा जाग्रत हो जाती थी। वे लोग यन्त्रवत् उनके अभिप्रेतभाव से आचरण करते थे। संघ में जो कुछ आदर्श, साधना, रीति, पद्धति या कोई अनुष्ठान प्रवर्त्तन करने की इच्छा करते थे उसे किसी भी आश्रित सन्तान के अन्तर में जाग्रत कर, उसका अनुष्ठान कराकर अन्य सबों में उसकी प्रेरणा संचार करते थे।

———

*पूजा का अर्घ्य व नैवेद्य-भोगादि ग्रहण किया। यही "भारत सेवाश्रम संघ" के गुरु पूजा की प्रथम सूचना है।

आचार्यदेव की मूल शिक्षा साधना

ब्रह्मचर्यम्

(१) रात्रि के साढ़े तीन बजे शय्या त्याग कर जपध्यान पूजा आरती करना।

(२) आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, जड़ता, तथा इन्द्रियों की उतेजना के प्रतिकार के लिये पद्मासन इत्यादिकिसी भी एक आसन का अभ्यास करना।

(३) सादा एवं परिमित आहार करना।

(४) आहार-विहार तथा वाणी में संयम का अभ्यास करना बिना प्रयोजन बोलना और न कहीं जाना।

(५) एक शय्या पर दो व्यक्ति कभी न सोना।

(६) निद्रा से पूर्व कम से कम आधा घण्टो नाम जप करके, प्रार्थना व जप करते करते सोना।

(७) विशेष आवश्यकता के विना किसी को स्पर्श न करना।

(८) भूल से स्पर्श हो जाने से १०८ बार नाम जप

करके प्रायश्चित्त करना ।

(९) त्यागी-सन्यासी ब्रह्मचारी के लिये स्नेह ममता-मोह महापाप है, किसी के प्रति ऐसा भाव आने से विचार-पूवक उसे दूर करदो ।

(१०) कुचिन्ता या दुश्चिन्ता को कभी भी मन में आने न देना । विवेक-विचार-वैराग्य रूपी तीव्र असि सदा उद्यत रखना मन को सदा सत्चिन्ता व सत् कर्म में संलग्न रखना, कभी कुचिन्ता अथवा अनावश्यक चिन्ता आने से नामजप व उपवास तथा रात्रि जागरण इत्यादि करके प्रायश्चित्त करना ।

(११) रिपु व इन्द्रियों की उत्तेजना होने से श्वास बन्दकर जप करना एवं त्रिकुटी में त्रिशूलधारी शंकर की रुद्रमूर्ति का ध्यान करना ।

(१२) नियमितरूप से कौपीन पहनना ।

(१३) प्रतिदिन अन्ततः दो घन्टा जप व ध्यान करना ।

(१४) नियमित रूप से दिनलिपि लिखना, एव साधन-पथ की उन्नति में जो कुछ बाधायें आती हैं उनको लिखकर प्रतिकार के लिये उत्तरोत्तर प्रबल चेष्टा करना ।

———

व्याधि–उग्रतपस्य

"त्यागी के शरीर में जो व्याधि है वह साधारण नहीं है, वह महा तपस्या है। उससे मन की मलिनता विदूरित होती है। विवेक वैराग्य को जाग्रत कर धन-जन-यौवन की नश्वरता का स्मरण दिलाती है। व्याधि हो रिपु के पीड़न व इन्द्रिय की उत्तेजना से साधक की रक्षा करती है। व्याधि ही साधक को सचेत करती है–इस शरीर का परिणाम केवल दो मुट्ठी (भस्म) है। व्याधि ही साधक में आत्म चिन्ता, आत्म विचारणा तथा आत्म-बोध को सदा जाग्रत रखती है।" **मृत्यु चिन्ता** त्यागी साधक के लिये अमृतमय रसायन है, मृत्यु-चिन्तासे ही बुद्ध-शंकर-चैतन्य महान बने थे। जो प्रतिनियत हृदय में यह भावना जग्रत रख सकता है कि यह शरीर-जीवन-यौवन सब क्षणभंगुर हैं, मृत्यु ही जीवन का आवश्मभावी परिणाम है, किसी भी समय यह शरीर नष्ट हो सकता है, समस्त प्रिय जनों से कसी भी समय वियोग हो सकता है—उसके मन में रिपु इन्द्रियों का प्रभाव कभी नहीं रह सकता। स्नेह-माया ममता का बन्धन छिन्न हो ज,ता है। विवेक वैराग्य व आत्म-ज्ञान प्रज्ज्वलित हो उठता है। "**आत्मचिन्ता**—आत्म-विचार साधक का महा सम्बल है। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? क्यों आया हूँ? कहाँ जाना है? जीवन का उद्देश्य क्या है? इन सब प्रश्नों हर जो सदा चिन्तन व मनन करता है, जो

विचार करता है संसार से हमारा क्या सम्बन्ध है? शरीर गृह आत्मीय-स्वजन क्या मुझे शान्ति दे सकते हैं ? इन सबके साथ कितने दिन का सम्बन्ध है ? क्या अपने किये हुये कर्म का फल मुझे ही नहीं भोगना पड़ेगा। ऐसे विचारवान् साधक को दहात्म-बुद्धि व संसाराशक्ति नष्ट हो जाती है तथा हृदय में आत्मज्ञान प्रोज्ज्वल हो उठता है।"

"संघनेता जो कुछ निर्देश देंगे वही एकमात्र गन्तव्य स्थान में पहुँचने का साधन है। ऐसा कौन कहाँ पर है जो यह कह सकता है कि सौ वर्ष की उन्नति एक वर्ष में करा दूंगा ? ऐसा सहायक प्राप्त करने पर भी तुम लोग व्यर्थ समय नष्ट करोगे।?"

"सर्वदा सब काम करते समय एक विशेष भाव में स्थित रहना। जो कुछ भी काम करते हो उस समय अन्तर में आत्म-चिन्ता का प्रबल स्रोत सतत् प्रवाहित रखना और बाहर यन्त्रसम काम करते रहना- यही अभ्यास करना चाहिये। आश्रम में आते ही ध्यान में मग्न हो जाना। भोजन पान चलते फिरते-काम काज के समय सदा ही नाम-जप करते रहना। मन को एक पल भी ऐसा अवसर न देना कि वह अकर्मण्य होकर अचिन्ता, कुचिंता में आबद्ध हो सके। एक स्थान पर बैठकर हरएक व्यक्ति अपने भाव को ठीक रख

सकता है, परन्तु जो शत शत विपद्- झंझटों में भी अपने भाव में स्थिर रह सकता है—वही प्रकृत शूर-वीर है। संघ-नेता के आदेश-उपदेश के अनुसार चलने से कोई तुम्हारा बाल भी बाँका नहीं कर सकेगा।

"ॐकार का ध्यान करना। ॐकार परब्रह्म की मूर्ति है। ॐकार ही शिव का स्वरूप है। ॐकार ही श्रीगुरु की मूर्ति है। **ॐकार के मध्य में गुरुमूर्ति का ध्यान करना**

"सावधान ! संघनेता का शुभदृष्टि के बाहर कभी न जाना। सर्वदा उनके आदेश-उपदेश के अनुसार चलना। स्खलन होने से दूर हट जाओगे। अत्यधिक सावधान व सर्तक रहना संघनेता के आदेशानुसार चलने से मुक्ति तुम लोगों के करतल गत होगी। पाप-ताप-भ्रम-भ्रान्ति तुम लोगों का केशाग्र भी स्पर्श नहीं कर सकेंगे।

"केवल गैरिक वस्त्र धारण करने से कुछ नहीं होता। अन्तर में यदि आत्मचिन्ता व मृत्युचिंता का भाव जाग्रत न रहे, जीवन का आदर्श उद्देश्य यदि स्थिर न रहे स्वेच्छाचारिता के मार्ग पर यदि जीवन यापन करते रहो तो क्या गैरिक-वस्त्र की मान मर्यादा रहती है ?"

"गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति व भय होना चाहिये उनके दुख कष्ट या दण्ड देने से भी उसे आशीर्वाद मानकर आनन्द के साथ सहन करना चाहिये। गुरु ही शिष्य का एकमात्र परम हितैषी है।

यह विश्वास सर्वदा जाग्रत रखना चाहिये कि वे जो कुछ करते हैं शिष्य के कल्याण के लिये हो करते हैं। **गुरु के एक भी आदेश की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।"**

"दुर्बल व्यक्ति कभी आत्मज्ञान व भगवद्भक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। केवल शारीरिक बल या पाशविक बल नहीं, प्रत्युत ब्रह्मचर्य का बल, धर्म का बल ही यथार्थ बल है संकल्प में जो दृढ़ है, प्रतिज्ञा में जो अविचल है, जो जितेन्द्रिय है, जो मन-वचन-कर्म से गुरु का आदेश पालन करने में तत्पर है-वही महामुक्ति का अधिकारी है।" "केवल गुरु के शरीर कीसेवा करना ही गुरुसेवा नहींहै। शारीरिक सेवा करनेकी सुयोग सुविधा कितने जनोंको प्राप्त हो सकती है। गुरु के अभिप्रेत भाव से गुरु के जीवन के आदर्श अनुसार जीवनगठन व यापन तथा गुरु के अभीष्ट कर्म के लिये जीवनउत्सर्ग करने की तत्परता-यह ही यथार्थ गुरु-सेवा है।"

"सदा अपने को गुरु का अंश या अंगरूप में विचार करना।

"रात्रि के तीन बजे के पश्चात् सोना नहीं चाहिये। इस समय आसन लगाकर जपध्यान व इस प्रकार प्रार्थना करनो चाहिये:—

"हे गुरुदेव! मुझको सब पापों से मुक्त करो! मुझे शुद्ध, शान्त, समाहित करो! मुझे निष्पाप व निष्कलंक करो,

मुझको अपने में मिलालो ! किसी प्रकार का भेद न रहे।"

"यह संघ मेरा नहीं है। यह संघ सर्वनियन्ता का है, मैं निमित्तमात्र हूँ। अल्पवर्षों में समग्रभारतवर्ष संघ को छत्रछाया के नीचे आयेगा।"

"गुरु-शिष्य की मौनावस्था में ही भाव-विनिमय होता है (भावों का आदान प्रदान होता है —गया काशी, हरद्वार में धर्म नहीं है। संकल्पित मन ही निर्जन गुफा है। उसी गुफा में धर्म का तत्व निहित है। गुरु की इच्छा व कृपा से ही सब कुछ होता है। इसलिये चौबीस घन्टे मन में गुरु स्मित को जाग्रत रखना चाहिये। यह विश्वास व धारणा दृढ़ रखना चाहिये कि वे सदा साथ में हैं। गुरु के प्रतिसर्वदा श्रद्धा भक्ति-अनुराग से युक्त रहना चाहिये।"

तुम लोग जो प्रतिदिन बारह-चौदह घन्टे अविराम कठोर परिश्रम करते हो इसे देखकर लोग आश्चर्यचकित रह जाते है। क्या तुम लोग जानते हो क्यों तुम लोगों को कष्ट का अनुभव नहीं होता ? संघनेता की शुभदृष्टि व शुभ आशीर्वाद तुम लोगों पर है—इसीलिये ऐसा होता है।"

',सदा गुरु की चिंता में लीन रहना चाहिये। पति-पत्नी में जैसा घनिष्ठ सन्बन्ध है, गुरु-शिष्य का सम्बन्ध उससे भी अधिक घनिष्टतरव सूक्ष्म है। सती स्त्री संसार के कार्य में व्यस्त रहने पर भी सदा पति की चिन्ता व उनकी प्रसन्नता की कामना करती है, शिष्य भी इसी प्रकार गुरु के निर्देशित और अभिप्रेत कार्य में संलग्न रहते हुये सर्वनियन्ता परम गुरु को चिन्तामें लीन रहता है।"

"प्रकृत संघसन्तान कौन है ? जो चौबीस घन्टे संघ-नेता के भाव, स्मृति, चिन्ता, भावना में लीन रहता है ऐसे संतान के हृदय में विवेक वैराग्य प्रोज्वल हो उठता है। उसको देखकर शत-शहस्र-लोगों की मनोवृत्ति में परिवर्त्तन आयेगा, वह जिस स्थान से चलेगा वह पवित्र हो जायेगा। उस स्थान का वातारण शुद्ध हो जायेगा।"

"गुरु-सेवा किसे कहते हैं ? चौबीस घंटे गुरु के निर्णीत पथ पर चलकर उनका इच्छित कर्म करना ही गुरु-सेवा है।"

संघवाणी

ई० सन् १८२४ से १८२७ तक आचार्यदेव ने अनेक त्यागी-सन्यासी व ब्रह्मचारी का जीवन गठन किया। इसके अतिरिक्त बहुसंख्यक स्थायी कर्मचारी भी प्रस्तुत किये। इन सब त्यागी सन्तान व कर्मचारी में संघबद्धता का भाव (Spirit of organisation) संचारित करने के लिये विभिन्न

प्रकार के अनुष्ठानों के माध्यम से आचार्यदेव ने "संघ जीवन का रहस्य क्या हैं ?" संघ जीवन का स्वरूप क्या है ?" संघ को अटूट व अखण्ड रखने का सूत्र क्या है ?" इन सब प्रश्नों का समाधान प्रकाशित किया। वह सब "संघ-गीता" के नाम से प्रकाशित हुये। उसका मर्माश नीचे दिया जाता है।

(१) विश्व-कल्याण को उपलक्ष करके जब सर्वनियन्ता आचार्य रूप में जगत् में अवतरण करते हैं, उस समय उस विराट् व्यक्तित्व को केन्द्र कर एक आध्यात्मिक शक्ति का महान आवर्त्त उद्‌भूत होता है तथा काल-प्रवाह से वह विस्तृत होता रहता है।

(२) कुछ स्वतः शुद्ध-पवित्र मानवात्मा में वह महती भागवती शक्ति व विराट् आध्यात्मिक महाभाव प्रतिफलित व संरक्षित होता है। वे ही संघ के प्राणस्वरूप हैं, मुख्यतः उन लोगों को आश्रय करके ही संघ का निर्माण होता है।

(३) सौरमण्डल में जिस प्रकार सूर्य को केन्द्रकर ग्रह-उपग्रह आदि अपनी अपनी कक्षा में भ्रमण करते हैं उसी प्रकार उक्त सन्यासीगण भी आचार्य को केन्द्र करके विराजमान हैं। सूर्य जिस प्रकार सौरमण्डल का प्राण व अवलम्बन है वैसे ही आचार्य स्वयं इस संघ के सन्यासियों के प्राण व एकमात्र आश्रय हैं।

(४) यह त्यागी सन्यासीगण जिस अनुपात में आचार्य के महाभाव से अनुप्राणित होकर निविड़तम रूप से उनके साथ युक्त होकर उनके विराट् व्यक्तित्व में लीन होंगे उसी परिमाण में वे लोग उस महान आध्यात्मिक-शक्ति के लीला-यन्त्र में परिणत होते हुये परस्पर एक दूसरे से घनिष्टतर हो जायेंगे।

समग्र संघ आध्यात्मिक शक्ति का एक विराट् यन्त्र स्वरूप है। आचार्य स्वयं उस यन्त्र के प्राण व परिचालक हैं, संघ के त्यागी-सन्तानगण उस यन्त्र के अङ्ग प्रत्यङ्ग हैं।

(५) एक व्यक्ति द्वारा निर्मित जलाशय में जिस प्रकार लाखों प्राणी जलपान कर तृप्त होते हैं उसी प्रकार संघ का आश्रय ग्रहण करके कोई भी व्यक्ति उस महाशक्ति की सहायता प्राप्त कर सकता है।

(६) संघ-सन्तान को प्रति श्वास-प्रश्वास के साथ यह स्मरण रखना होगा सघ की उन्नति ही हमारो उन्नति है। संघ के कल्याण में ही हमारा कल्याण है। संघ की मुक्ति में ही हमारी मुक्ति है। संघ के उदेश्य और आदर्श ही हमारे साध्य व उपास्य हैं। संघ की चिंता ही हमारा ध्यान है। संघ के हितसाधन में तन्मय हो जाना ही हमारो महासमाधि है। संघ ही भक्त का भगवान, ज्ञानी का ब्रह्म, योगी की आत्मा तथा संघ ही जाति की महाशक्ति स्वरूपा कुल-कुन्डलिनी है।

(७) संघ, संघ शक्ति व संघनेता, यह तीनों एक हैं और एक में ही तीनों हैं। संघ-शक्ति संघनेता की ही शक्ति है। संघ, संघनेता का ही विराट् स्वरूप है। सम्मिलित संघ का आदेश संघनेता का ही आदेश है।

(८) संघ साधना ही इस युग की साधना है। संहति ही उन्नति व अभ्युदय का उपाय तथा महाशक्ति के आविर्भाव का यन्त्र है।

(९) त्याग व तपस्या, संयम व इन्द्रिय-निग्रह ही संघ की जीवनी-शक्ति है, विलास व व्यसन ही संघ का मृत्युबाण है।

(१०) आत्मविस्तार ही संघ का जीवन है। आत्मविस्मृति व आत्म-संकोच की मृत्यु है।(Expansion is life, contraction is death)

(११) यह संघ ही सघनेता की दिव्यदृष्टि से प्रत्यक्ष किया हुआ भारतीय आर्य सभ्यता का बीज स्वरूप है।

(१२) संघनेता के विराट व्यक्तित्व में अपने अपने व्यक्तित्व, स्वातन्त्र्य व इच्छा को पूर्णरूप से विलीन कर देना ही संघ सन्तानों की साधना है।

(१३) संघनेता के अभीष्ट धर्म-साधना का बीज मन्त्र :—

लक्ष्य क्या है ?—आत्मतत्वोपलब्धि, महामुक्ति।

धर्म क्या है ?—त्याग-संयम-सत्य-ब्रह्मचर्य।

महामृत्यु क्या है ?—आत्म विस्मृति।

प्रकृत जीवन क्या है ?—आत्मबोध, आत्मस्मृति, आत्मानुभूति।

महापुण्य क्या है ?—वीरत्व, पुरुषत्व, मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व।

महापाप क्या है ?—दुर्बलता, भीरुता, कापुरुषता, संकीर्णता व स्वार्थपरता।

महाशक्ति क्या है ?—धैर्य, स्थैर्य, सहिष्णुता।

महासम्बल क्या है ?—आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता, आत्ममर्यादा।

महाशत्रु क्या है ?—आलस्य, निद्रा, तन्द्रा, जड़ता, षड़रिपु व इन्द्रियगण।

परम मित्र क्या है ?—उद्यम, उत्साह, अध्यवसाय।

संघनेता की आश्वासन वाणी

"भारत अधिक समय तक प्रसुप्त अवस्था में नहीं रहेगा। भारत पुनः जाग्रत होकर आत्मगौरव को प्राप्त करेगा। धर्म

को अवलम्बन करके पुनः जगद्गुरु के आसन पर अधिष्ठित होगा।"

आत्मविस्मृति को दूर करने के लिये आचार्यदेव ने कहा—"भारत भूलना मत तुम ऋषियों की सन्तान हो। तुम्हारा धर्म,समाज, व जातीयता ऋषियों द्वारा निर्मित हुये हैं तथा ऋषि के सनातन अनुशासन से परिचालित होते आ रहे हैं। तुम्हारे जातीय जीवन के प्रत्येक कतव्य ऋषि-निर्दिष्ट हैं। त्याग-संयम-सत्य-ब्रह्मचर्य ही तुम्हारे जातीय जीवन के आदर्श हैं। इस आदर्श का प्राणप्रण शक्ति से अनुशीलन करो। यदि कहीं सामान्य त्रुठि हुई तो भी विनाश की सम्भावना नहीं है। ब्रह्मचर्य का अवलम्बन करो। अपने जातीय जीवन की प्रत्येक शिरा में ब्रह्मचर्य का अमोघ वीर्य व अक्षय ओजः विद्युत् प्रवाह की भाँति संचारित होने दो! भारत पुनः स्वर्णमय भारत बन जायगा।"

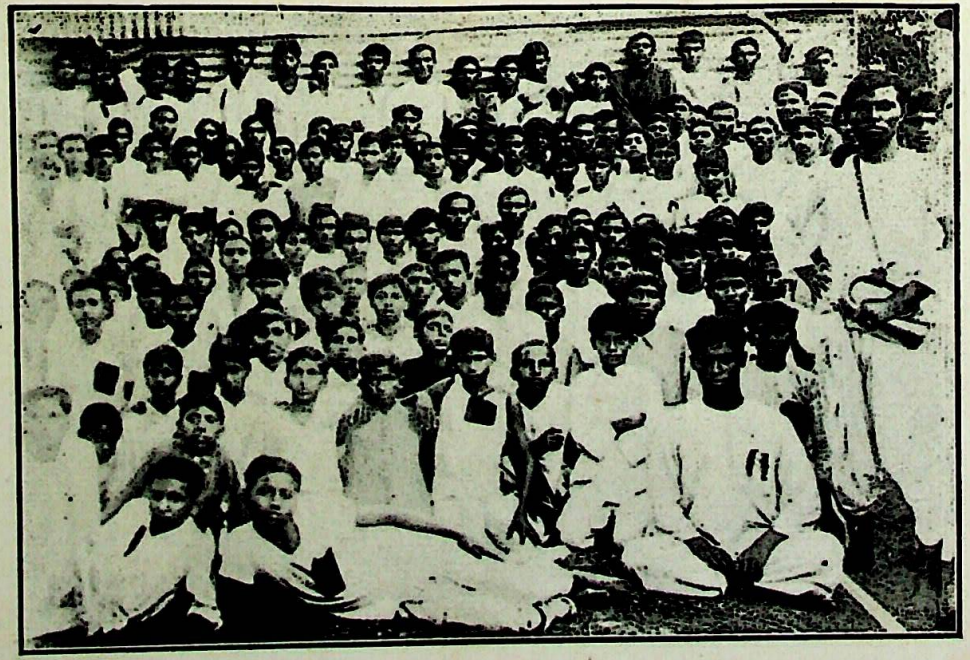

हिन्दू मिलन मन्दिर, रक्षकदल

ಶ್ರೀರಾಮನು ಸೀತೆಯನ್ನು ಅಗ್ನಿಪ್ರವೇಶ ಮಾಡಿಸಿದ ಪ್ರಸಂಗ

नैतिक आदर्श का आन्दोलन
व
ब्रह्मचर्य साधन-प्रदान

ई० सन् १९१६ से १९२६ तक आचार्यदेव के हृदय की करुणा धारा जनसेवा के मार्ग से प्रवाहित होती हुई क्रमशः विस्तृत होने लगी।

ई० सन् १९२७ के मार्च मास में आचार्यदेव के हृदय में हरद्वार के पूर्ण कुम्भके मेले में भगवद्-प्रेरणा से एक नवीन संकल्प जाग्रत हुआ; उससे संघ के जीवन में पुनः एक नवीन अध्याय का श्रीगणेश हुआ।

हरद्वार में जटामाई के मंदिर में आचार्यदेव का संकल्पित आसन स्थापित किया गया। मानव कल्याण का अमोघ संकल्प ग्रहण कर आचार्यदेव अहोरात्रि उसी आसन पर विराजमान रहे। अधिक रात्रि में जब दर्शनार्थी नहीं रहते थे तभी स्वल्प समय के लिये उनका विश्राम होता था। उस समय उनके दिव्यमाधुर्य का अलौकिक प्रकाश सहस्रों नर-नारी को आकर्षित करता था। व्याघ्रचर्मासन पर शान्त, समाहित-विशाल-मूर्ति, शिरपर जटाजाल, अर्ध निमीलित नेत्र, वराभयदान में उद्यत कर-कमल, श्री मुखारविन्द पर जीव करुणा के भावावेग से अपूर्व लालिमा उद्भासित होती थी। ऐसा प्रतीत होता था मानों मूर्तिमान आशुतोष शिव ही जीवजगत को शान्ति व मुक्तिदान के लिये

विराजमान हों। स्नेह-वात्सल्य की स्निग्ध-कोमलता से एक स्वर्गीय-सुषमा मुख मण्डल को ज्योतिर्मय बना रही थी जनता तों नदी प्रवाह की भाँति अविराम गति से आती थी तथा आसन के सम्मुख आकर उस धीर-स्थिर प्रशान्त-विराट मूर्ति की ओर अनिमेष दृगों से देखती रहती। उनकेकृपा-कटाक्ष से दर्शनार्थी मुग्ध होकर वहीं स्थिर हो जाते। न जाने किस अपूर्व भावावेशमें वे लोग विभोर हो जाते ! अधिकांश लोग प्रश्न करते-"औरत हैं या आदमी ?" परवर्तीकालमें भी हरद्वार तथा प्रयागधाम में उनका चित्र देखकर बहुत से लोग परस्पर कहते-यह भारतमाता की तस्वीर है।" वास्तव में आचार्यदेव के विराट् विपुल शक्तिशाली शरीर पर ऐसी ही मातृसुलभ कर्मनीयता थी। विशेषकर कुम्भ मेला जैसे विशेष अवसर पर जब जीव कल्याण का संकल्प प्रबल हो उठता था उस समय उनके श्रीमुख से ऐसी ही अहैतुकी करुणा-प्रेम व वात्सल्य की दिव्य आभा विच्छुरित होती थी—

ई० सन् १६२७ के फरवरी मास से आचार्यदेव के आशीर्वाद से **'प्रणव'** नाम की पत्रिका नियमित रूप से प्रकाशित होने लगी। त्याग-संयम सत्य ब्रह्मचर्य के आदर्श पर भारत की नवीन जातीयता के महान आदर्श की रूपरेखा व सूचना इसके द्वारा आज भी चतुर्दिक प्रचारित हो रही है।"ध्रुव भारत" तथा "सन्यासी" नामक पुस्तक व पत्रिका के माध्यम से आचार्यदेव का अभीष्ट-ऋषि युग के उन्नत भारत का चित्र व युगोपयोगी सन्यासधर्म के उच्च आदर्श का प्रचार हुआ।

ई० सन् १६२६ में कलकत्ता, आश्रम में "संघसेवक सम्मिलनी" गठित हुई थी। क्रमशः उसका प्रसार हुआ तथा "ब्रह्मचर्य व नैतिक चरित्रगठन की नवीन शिक्षा साधना"—नामक

पत्र स्कूल कालेज व अनेक स्थानों में प्रचारित होने लगा। इसके द्वारा कलकत्ता जैसे आधुनिक आलोकप्राप्त नगर के बालक व युवक अध्यापकों में भी एक अपूर्व प्रेरणा जाग्रत हुई। आरम्भ में बहुत से लोग टीका-टिप्पणी भी करते—यह सब प्राचीन युग की धारा इस युग में नही चलेगी। परन्तु अन्त में वही लोग इस आन्दोलन की सफलता देखकर उनकी शरण में आ गये थे। इसी समय एक युवक आचार्यदेव के आकर्षण से उनके पास आया और आदेश-उपदेश प्राप्त कर संसार त्यागी होकर संघ में आगया। उसने उस समय का जो विवरण लिखा है, उससे उस वातावरण का किंचित आभास प्राप्त होगा ।

"रविवार—संघ-सेवक-सम्मिलनी का अधिवेशन हो रहा है । स्कूल कालेज के शत शत विद्यार्थी-युवक, शिक्षक, अध्यापक, सरकारी कर्मचारी इत्यादि का अविच्छिन्न प्रवाह आ रहा है। आचार्य की तपःशक्ति की प्रेरणा व अमृतमय उपदेश प्राप्त करना ही सबका उद्देश्य है। ॐ संघं शरणं गच्छामि ॐ धर्मं शरणं गच्छामि, ॐ प्रणवं शरणं गच्छामि, ॐ हर हर बम् बम् कीर्त्तन चल रहा है। आचार्यदेव की कृपा प्राप्त करना ही सबका लक्ष्य है। एक एक करके वे सबको उपदेश करते थे और कभी कभी एक साथ भी करते थे।

हम लोग Post graduate क्लास के कई विद्यार्थी व अध्यापक उनके प्रकोष्ट में गये। अपूर्व शान्त-सौम्यमूर्ति है। मुख मण्डल स्नेह-करुणा से देदीप्यमान है। सर्वांग से तपस्तेज व ब्रह्मचर्य की दिव्यप्रभा विच्छुरित हो रही है। उनके शरीर को स्पर्श करके पद्मासन में बैठकर ध्यान करने का आदेश दिया। ध्यान कैसे किया जाय यह विचार आते ही उन्होंने कहा—"कोई चिन्ता नहीं ध्यान अपने आप ही होगा। हम लोगों ने आदेश पालन किया।

कुछ समय उपरान्त उन्होंने सबसे पूछा कि ध्यान में क्या देखा। ध्यान में बैठने के पश्चात् समस्त कक्ष का वातावरण स्तब्ध-गम्भीर व शान्त हो गया। केवल ॐकार का गम्भीरनाद निस्तब्धता को और भी गम्भीर बना रहा था। हम लोगों का संशयपूर्ण मन उस दिन स्वतः ही उनकी तपःशक्ति उपलब्धकर सहसा उनके प्रति श्रद्धा व विश्वास से आकृष्ट हो गया।"

ब्रह्मचर्य का महान् ऋक्, ब्रह्मचर्य-घन-मूर्ति-आचार्य के कण्ठसे उच्चारित होकर लाखों नव-युवकों के हृदय में एक अननुभूत आग्रह व उत्साह जाग्रत करने लगा। आचार्य का आशीर्वाद भारत के नवीन समाज पर वर्षित हुआ। इस आशीर्वाद व आश्वासन ने उस समय के नवीन समाज में किस उत्साह व आनन्द का जागरण किया था यह उस समय के लोगों से ही पूछो जिन्होने कि मिर्जापुर स्ट्रीट स्थित आश्रम में प्रतिदिन, विशेषकर रविवार व शनीवार को 'संघ-सेवक-सम्मिलनी' के अधिवेशन में उपस्थित रहने का सौभाग्य प्राप्त किया था।

इस दृश्य को देखकर हम लोग विस्मय-विमुग्ध रह जाते थे और विचार करते थे कि–"इस विलास-व्यसन के युग में जिस समय देश का अर्वाचीन समाज नास्तिकता व अविश्वास के प्लावन में निमज्जित सा हो रहा है, भगवान्, धर्म, शास्त्र, महापुरुष सब कुछ जिस समय केवल उपहास की वस्तु माने जाते हैं–जिस समय थियेटर, सिनेमा तथा नृत्य, गीतादि मनो-रंजन में अधिकांश समाज आनन्द ले रहा है–इस नैतिक आदर्श के अधःपतन के युग में यह कैसा अपूर्व भाव व दृश्य है? विचार करते थे–सिद्ध संकल्प आचार्य की अमोघ इच्छाशक्ति के अजेय प्रभाव से ही यह सब सम्भव हो रहा है।

वङ्गाल के केन्द्रस्थल कलकत्ते से यह आन्दोलन आरम्भ होकर भारत के अन्य प्रान्तों में भी प्रसारित हो इसके लिये आचार्यदेव ने यथायोग्य आयोजन किया। अपने पताकावाही सन्यासी सन्तानो में अपने योगबल से ऐसा संकल्प जाग्रत किया कि जन साधारण के अन्दर इन महान आचार्य के नैतिक व आध्यात्मिक महाभाव का प्रचार करने के लिये उनका हृदय स्वतः उत्साहित व भावावेग से उद्वेलित हो उठा। उपयुक्त अवसर जानकर आचार्यदेव ने एक सन्यासी को इस प्रकार लिखा :—

"वैदिक युग को आदर्श व बौद्ध युग के विशिष्ट भाव को ग्रहण कर संघ-सन्तानों को समग्रदेश के सम्मुख उपस्थित होकर, देशवासियों को संघ के भाव से अनुप्राणित तथा उद्‌बुद्ध करना होगा"

संघ के भाव व आदर्श तथा धर्म के आधार पर हिन्दू जातिगठन की वाणी प्रचार करनेके लिये आचार्य ने कई "प्रचारक मण्डली" कों प्रस्तुत किया। उक्त 'प्रचारक मण्डली' शहरों तथा गाँवों में भजन, कीर्त्तन, सभा-समिति, वैदिक यज्ञ, गुरु-पूजा इत्यादि अनुष्ठान द्वारा प्रचार करने लगीं। संघ के सन्यासियों के ओजस्वी भाषण से बंगाल के सब स्थानों में एक नैतिक वातावरण का जागरण हुआ। वह नैतिक प्रवाह धीरे धीरे बंगाल की सीमा अतिक्रम कर बिहार, उड़ीसा, आसाम, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मद्रास तथा गुजरात इत्यादि प्रान्तों में प्रसारित हुआ।

जनसाधारण के इस अपार-उत्साह का समाचार उनको सुनाने से वे गम्भीर भाव से कहते—"तुम लोग मेरा प्रचार क्या करोगे? पक्षी भी मेरा

प्रचार करेंगे। बौद्ध युग में जिस प्रकार बुद्ध का नाम लेते हुये सब लोग शय्या ग्रहण करते थे और बुद्ध का नाम लेकर ही निद्रा त्याग करते थे उसी प्रकार एक दिन आयेगा जब देशवासी संघ व संघनेता के नाम का जप करेंगे।"

आचार्यदेव के अहैतुक स्नेह-वात्सल्य व प्रेम को प्राप्त कर, बालक युवक व कर्मीगण यही अनुभव करते कि उनके परम हितैषी व यथार्थ कल्याण कारी–आचार्यदेव के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं है। वे लोग निःसंकोच होकर आचार्यदेव को अपनी अपनी मनोदशा निवेदन करते तथा अहैतुकी कृपा के आधार आचार्यदेव, आशा, आश्वासन व उत्साह प्रदान कर उनके भविष्य जीवन का निर्देश देते हुये उनमें नवीन प्राणशक्ति का संचार करते थे। उनके पास अगणित व्यक्ति आते, परन्तु सबके हृदय में यही दृढ़ धारणा थी कि वह ही आचार्य का सबसे प्रिय है। आचार्यदेव ने उस पर ही सब से अधिक कृपा की है। अतः माता-पिता से जिस प्रकार बिना किसी संकोच के बालकगण, आग्रह, अनुरोध व प्रेमपूर्ण दुराग्रह भी करते हैं- वैसे ही वे सब भी उनके प्रति आकृष्ट होकर उनसे मनमाना दुलार करते थे। सभी बालक व युवक उनको अपना नितान्त आत्मीयजन मानते थे।

गृहस्थ्य-जीवन का आदर्श प्रचार

व

शिक्षा साधना प्रदान,

तरुण समाज के नैतिक जीवनगठन के उपाय व आश्रय प्रदान की व्यवस्था करने के पश्चात् उन्होंने गृहस्थाश्रम के कल्याण की ओर सविशेष करुणा दृष्टि डाली। कारण-प्राचीन भारत के गौरवमय, आदर्श गृहस्थाश्रम का आज किंचित् मात्र चित्र कदाचित् ही कहीं दृष्टिगोचर होता है। पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में स्नेह-प्रेम-दया-सहानुभूति, श्रद्धा-भक्ति-विश्वास-कृतज्ञता, संयम-नियम-सतीत्व-पातिव्रत्य का आज अत्यधिक अभाव है। नर-नारी आत्मसुख-सम्भोग व स्वार्थ के कलुष भाव में डूबे हुये हैं। जनक-युधिष्ठिर रामचन्द्र, शिव दधीचि-दिलीप, कृष्ण-भीष्म-धनञ्जय जिस भारत के गृहस्थ थे, सती, सीता, दमयन्ती, द्रौपदी, शैव्या, चिन्ता, सावित्री, गान्धारी, कुन्ती गार्गी, मैत्रेयी, मदालसा जिस भारत की स्त्रियाँ थीं, गृहस्थाश्रम श्री भगवान के मन्दिर तुल्य आनन्द का शान्ति निकेतन था, जिस भारत का परिवार,समाज, स्नेह-प्रेम-प्रीति व मिलन का नन्दन वन था, जिस भारत का गृहस्थाश्रम आर्त्तका आश्रय, सन्तप्त की सुशीतल छाया, सब कुछ खोये हुये का अवलम्बन, दुखी का शान्ति स्थान था। जिस भारत के गृहस्थाश्रम में व्रत-नियम-उपवास, देवपूजा, अतिथि सेवा इत्यादि का आनन्द-प्रवाह सर्वदा प्रवाहित था वहीं पर

आज ईर्ष्या-द्वेष का दावानल जलरहा है। जीवन आज मरुभूमि में परिणत हो रहा है, शांति,—आनन्द,—मिलन—प्रेम—प्रीति-श्रद्धा—भक्ति—विश्वास आज दुर्लभ वस्तु हैं। आज के गृहस्थाश्रम में गुरु-पूजा देव-सेवा, अतिथि सत्कार, ज्येष्ठ व श्रेष्ठ के प्रति भक्ति-विश्वास का नितांत अभाव है। व्रत-उपवास-संयम नियम-गुरुजन में भक्ति, शास्त्र में श्रद्धा इत्यादि पवित्रगुणों को आज कुसंस्कार माना जाता हैं। इसके विपरीत वहाँ केवल भोग-विलास की नित्य-नवीन सामग्री संग्रह का आयोजन है।

अनन्त करुणा की मूर्ति आचार्य का कोमल हृदय भारत के गृहस्थाश्रम की इस चरम अधोगति को देखकर करुणाविगलित हो उठा। उनके हृदय की वह प्रेम मन्दाकिनी भारत के गृहस्थाश्रम की मरुभूमि में शक्ति व प्रेम का प्लावन वहाने के लिये उद्वेलित हो उठी। संघनेता आचार्यदेव ने सद्गुरुवेश में शिष्यवत्सल, भक्तवाञ्छा कल्पतरु के रूप में एक अभिनव आन्दोलन आरम्भ किया! अब उस विषय पर प्रकाश डालने की चेष्टा की जायेगी।

गृहस्थाश्रम को आदर्शमय वनाने के लिये आचार्यदेव मानों संकल्पारूढ़ हो गये। दिन पर दिन, मास पर मास सहस्रों वालक, युवक, विद्यार्थी-अध्यापक व समग्र तरुण समाज को कल्याण के पथ पर प्रतिष्ठित करने के लिये अविराम परिश्रम करने लगे। गृहस्थ नर-नारी को आदर्श जीवन पर प्रतिष्ठित करने के लिये साधन, उपदेश, मन्त्र प्रदान कर उनमें अपनी अलौकिक शक्ति संचास करने लगे। शरीर पर इस अमानुषिक परिश्रम का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। प्रतिदिन सोलह-अठारह घन्टे तक रुद्धकक्ष में संकल्पारूढ़ होकर कम से कम पाँच सौ दर्शनार्थियों के साथ वार्त्तालाप करना तथा साधन क्रिया इत्यादि की

शिक्षा प्रदान करना पड़ता था। शरीर रक्षा की सभी क्रियायें यन्त्र: चालित की भाँति सम्पादित होती थीं। विश्राम के समय संघके अन्याय गुरुतर दायित्व के विषय में मनन चिन्तन व आदेश-निर्देश देना रहता था। विभिन्न स्थानों में कर्मी को आवश्यक आदेश निर्देश व पत्रादि द्वारा उत्साह व मार्गदर्शन देना कर्मकेन्द्रों में कर्मचारी प्रेरण करना, उनके लिये नवीन कर्मी संग्रह करना, सबके योगक्षेम की व्यवस्था करना, सब उनको ही करना पड़ता था। आचार्य देव इस कर्मव्यस्तता के विषय में कहा करते थे— "सन्यासी के लिये विश्राम कैसा ? कर्म से कर्मान्तर ही उसके लिये विश्राम है। जिस समय चिता परच ढ़ेगा वह ही होगा परम विश्राम।"

कई मास तक इस प्रकार के अविराम परिश्रम से उनका शरीर अस्वस्थ हो गया। इस अस्वस्थता की स्थितिमें भी वे संघके समस्त कार्यों का निरीक्षण व तत्वावधान करते थे क्रमशः स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो उठी। परन्तु इस समय उनके वार्तालाप से प्रतीत हुआ कि योगिराज गम्भीरनाथ जी ने उनमें शरीर धारण करने का संकल्प संचारित किया, जिससे वे स्वस्थ हो गये। और भी कई वार जब उनमें स्थूल शरीर त्यागने का संकल्प जाग्रत हुआ तब भी विचार करने पर यही ज्ञात हुआ कि नाथ जी की योगशक्ति से वे स्वस्थ हो उठे। आचार्य की स्थिति गम्भीर होने से वे योगिराज गंम्भीरनाथजी के चित्र को अपने सम्मुख रखते थे तदुपरान्त उनकी स्थिति में सुधार होने लगता था। आचार्य क्यों इस प्रकार अस्वस्थ होते थे ?—योग्यस्थान पर इस विषय में प्रकाश डाला जायेगा।*

---

* इस समय बाजितपुर निवासी श्री प्रियनाथ दास का शिशु पुत्र

जगत्-कल्याण के संकल्प से ही आचार्यगण शरीर धारण करते हैं। वह संकल्प जब तक तीव्र रहता है तब तक शरीर स्वस्थ और कार्यक्षम रहता है। संकल्प शिथिल हो जाने से शरीर-मन अशक्त होने लगता है। इसलिये देखा जाता है कि क्रमागत संकल्प पर संकल्प लेकर ही ऐसे महान आचार्यगण लोक कल्याण के लिये अत्यावश्यक समय तक स्थूलशरीर धारण करते हैं।

आचार्यदेव के जीवन के प्रारम्भ में देखा जाता है—देश के नैतिक अधः पतन से व्यथित होकर उसके प्रतिकार के लिये वे व्याकुल हो उठे। उसके लिये नैतिक आन्दोलन प्रारम्भ करने के हेतु कतिपय स्वतः शुद्ध-पवित्र आत्माओं को अपने जीवन आदर्श पर प्रस्तुत करके आश्रम की स्थापना व आवश्यक कर्म प्रवाह की सृष्टि की। साथ ही साथ जनसेवा का आदर्श व समाज-सेवा की प्रेरणा जाग्रत करने के लिये प्रबल उद्योग किया। उपरोक्त कार्य जब प्रबल रूप से चलने लगा तब स्थूल शरीर को और कुछ दिन इस जगत् के कल्याणार्थ

सन्निपात रोग से मरण तुल्य हो गया था। एक दिन उसके माता-पिता ने आचार्यके कक्ष में बहुत देर तक बैठकर उसको स्वस्थ कर देने के लिये व्याकुल प्रार्थना की। उसी के पश्चात् आचार्यदेव ने उस कठोर व्याधि को अपने शरीर में धारण किया। वह बालक बच गया। इस घटना को आचार्यदेव ने स्वयं कहा था।

यहाँ रखने के लिये अन्य किसी कर्मका नवीन संकल्प लेना आवश्यक हो गया।

व्याधि के प्रबल प्रकोप से जब वे शय्यावश थे उस समय उनमें दो संकल्प जाग्रत हुये। (१) सद्गुरुरूप में गृहस्थ समाज में अपनी तप शक्ति संचारित करना। (२) समाज में "शक्तिसाधना" का प्रवर्त्तन। इन संकल्पों के जाग्रत होने के पश्चात् ही वे स्वस्थ होने लगे। उत्तरकाल में भी जब वे अस्वस्थ हुये तब ऐसा संकल्प ग्रहण करने पर ही पुनः स्वस्थ हुये थे। इसका उल्लेख आयेगा।

ई० सन् १९२७ के फरवरी मास में आचार्य देव ने नवीन भूमिका में अवतीर्ण होकर सद्गुरुरूप में शत सहस्र गृहस्थों को साधन-दीक्षा देकर उनमें शक्ति संचार करना आरम्भ किया। श्री श्री शिवरात्रि के पूर्व दिन वे सहसा स्वगत भाव में ही बोल उठे—

"आज तक जो नहीं किया था अब वही करूंगा।"

दूसरे ही दिन आश्रम पर विराट् जनस्रोत उमड़ पड़ा। अनेक लोगों ने दर्शन-प्रणाम कर आशीर्वाद व अभिनवशक्ति प्राप्त किया। बहुतों को अमूल्य उपदेश प्राप्त हुये।

इसके पश्चात् दिन पर दिन मास पर मास और वर्षों तक साधनदान का कार्य चलता रहा। जनता में भी साधन ग्रहण करने का अत्यधिक आग्रह देखा जाता था। तदनन्तर आचार्यदेव जहाँ भी जाते, मधु-लोलुप मधुमक्षिकाओं की भाँति सहस्रों नर-नारी उनके निकट आते थे, चाहे वे किसी भी मत व पथ के क्यों न हों। वहाँ पर किसी प्रकार का भेद नहीं था। उनके पास सबका समानाधिकार था। आधार व आग्रह के अनुसार वे उसे साधन व उपदेश प्रदान करते थे। सभी को उनका कहना था—

"यहाँ पर आकर कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। सबका अन्तर-बाहर भूत-भविष्य मेरे नख दर्पण में है जिसको जिस वस्तु की आवश्यकता है उसको मैं स्वयं प्रदान करूंगा।"

असंख्य नर-नारी उनके दर्शन के लिये आते थे। सब के आगमन का उद्देश्य एक ही नहीं होता था। सब कोई श्रद्धा-भक्ति-विश्वास से अनुप्राणित होकर भी नहीं आते थे। कोई अर्थकी कामना से आता था, तो कोई जिज्ञासु अपना संशय मिटाने आ जाता था। कोई तो कैसे महापुरुष हैं—इसी की परीक्षा लेने आता था। कोई केवल तर्कवाद लेकर ही उपस्थित होता था। ऐसा भी देखा गया है कि कोई कोई तो उनके कक्ष में प्रवेश करने का साहस ही नहीं करते थे। द्वार से ही प्रत्यावर्त्तन करते। कोई साक्षात् शंकर मानकर भक्ति विह्वल भाव से प्रणाम पूर्वक आशीर्वाद ग्रहण करता था। किसी किसी के प्रणाम करने के साथ ही आचार्यदेव उसके मन में जो प्रश्न होता था उसका उत्तर दे देते थे। किसी का उनके समीप उपस्थित होते ही संशय का समाधान हो जाता था। कितने ही अनुतप्त प्राण, श्री चरणों में नतमस्तक होकर अश्रुधारा के साथ आत्म-निवेदन करके सान्त्वना व आश्वासन प्राप्त करते थे। कोई किसी प्रकार का अनावश्यक वाक्-वितर्क करने से वे मौन होजाते थे। उनको गम्भीर देखकर वह भयभीत होकर बाहर चला जाता था। आचार्यदेव कहते थे—"पागल कितना प्रलाप करता है? कौन उसका उत्तर देता है? मैं सब का अन्तर-बाहर देख रहा हूँ, मेरे पास प्रश्न करने की क्या आवश्यकता

है? अतः मेरे समीप व्याकुलता व आन्तरिक प्रार्थना लेकर आना चाहिये।"

किसी किसी जिज्ञासु को उसके प्रश्न के उत्तर के लिये गुरु-पूजा के आसन के सम्मुख प्रार्थना करने का निर्देश देते थे। कितने लोगों को उनकी समस्या का समाधान वहीं प्राप्त हो जाता था। किसी को स्वप्न में ही आचार्यदेव के दर्शन, उपदेश एवं साधन मन्त्र की प्राप्ति होती थी। ऐसी असंख्य घटनायें घटित हुई हैं।

एक युवक ने (जो बाद में सन्यासी हो गया) शिवरात्रि के दिन साधन ग्रहण किया। उसने कहा कि मुझे बुलाकर आचार्यदेव ने इस प्रकार कहा– "आज तू जो माँगेगा वही दूंगा। मनमाना वरदान माँग ले।" मेरा तो हृदय पूर्ण हो गया। एक ही प्रार्थना उठने लगी–अनन्तकाल तक तुम्हारे श्री चरणों में स्थान मिले यही चाहता हूँ। मुझे किस वस्तु की आवश्यकता है वह तो स्वयं ही जानते हो। तुम्हारे श्री चरणों में अखण्ड स्थिति मिले। जितनी बार उन्होंने वरदान माँगने को कहा उतनीबार केवल यही प्रार्थना उठने लगी। इसके पश्चात् मेरे अंक में श्री चरणों को स्थापित करते हुये उन्होंने शयन किया। जब जाग्रत हुये तो मुझे अंक में लेकर कहने लगे–"कोई भय नहीं है। सदा निर्भय रह कर तू संघ की सेवा कर सकेगा।

एक सन्तान ने जो कि स्कूल के शिक्षक थे इस समय उनकी कृपा प्राप्त की। उन्होंने एक निबन्ध में इस प्रकार लिखा है–"आज रविवार है, दर्शन के लिये अपार जन-समुद्र है। किसी प्रकार की आलाप-आलोचना का शब्दमात्र भी नहीं है। प्रत्येक के हृदय में दर्शन की व्याकुल अभिलाषा है।

इतनी भीड़ में दर्शन का सुयोग किस प्रकार प्राप्त होगा यही विचार कर रहा हूँ। इतने में एक सन्यासी ने मुझे अन्दर बुलाया। प्रकोष्ट के अन्दर जाकर देखा—अपार सौन्दर्य की घनीभूत-मूर्ति, दिव्यज्योति से पूर्ण मुख मण्डल, नेत्रों में माधुर्य पारावार. शान्त स्तिमित दृष्टि, स्कन्ध पर्यन्त कोमल, कुंचित अलकावलि, काशाय वस्त्र परिहित एक विराट् किन्तु शान्त सौम्य मूर्ति, प्रणाम करने के साथ ही कहने लगे मा भैः ! कोई चिन्ता नहीं है। तुझे क्या चाहिये मैं जानता हूँ। तेरे में अनेक शुद्ध संस्कार हैं। आज से और कोई भय नहीं है." मुझे अंक में भर कर पुनः कहने लगे—"तू कोई चिन्ता न कर".....घर में आकर समस्त रात्रि उसी अलौकिक अनुभूतिमें अवगाहन करता रहा। प्रातःकाल पाँच हरीतकी लेकर आश्रम में गया। आचार्यदेव के प्रकोष्ट में प्रवेश कर प्रणाम पूर्वक प्रार्थना करने लगा—"मेरे संशय को छिन्न-भिन्न कर विदूरित करो। बोलो मुझे क्या चाहिये ? बोलो तुम मेरे कौन हो ? तथा मैं तुम्हारा कौन हूँ ?"

आचार्यदेव ने कहा—आज से तू मेरी सन्तान है। मेरे पर सब भार सौंप दे। तेरे अनन्त जन्मों के पाप-पुण्य को मैं ग्रहण करता हूँ।" मन्त्र-प्रदान कर जप करने का आदेश दिया और कहा—"यह संसार अपना स्थान नहीं है। तू पथिक है ! अतिथि को जैसे भोजनादि दिया जाता है, स्त्री-पुत्रादि के प्रति ऐसा ही भाव रखना और किसी प्रकार की आसक्ति न रखना।" तत् पश्चात् मुझे विचार आया कि बाल्यावस्था में एकबार स्वप्न में इन्हीं महापुरुष को त्रिशूल लिये हुये मुझे बाघ के मुँह से रक्षा करते हुये मैंने दर्शन किया था।"

"ई० सन् १६२७ के अगस्त मास में दर्शन के लिये आश्रम में गया। दर्शन लाभ हुआ। अल्प वार्त्तालाप के पश्चात् एक मन्त्र देकर जप करने को

कहा, इस पर मैंने कहा-ऐसा जप मैंने बहुत किया है, और करता हूँ, रात-रात भर बैठकर बीस-पच्चीस हजार जप करता हूँ परन्तु इससे कुछ भी नहीं होता। तब आचार्यदेव मेरी ओर दृष्टि डालकर कहने लगे-ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित नहीं होने से कुछ भी धारणा नहीं हो सकती। सिद्ध आचार्य के पास मन्त्र प्राप्त करते तो इस प्रकार कहने का अवसर न आता" पुनः कहा--"एक सप्ताह में यदि इसका फल न हो तो यहाँ मत आना। मन्त्र को भी बिल्व-पत्र में लिखकर गंगा में डाल देना।"

आचार्यदेव के कथनानुसार फल प्राप्त हुआ। हृदय से अविश्वास दूर हुआ। शिवरात्रि के दिन उनके आदेश से आश्रम में शिवजी की पूजा की। तत्पश्चात् उन्होंने कहा--"और एक दिन आना। तुमको ब्रह्मचर्य-साधन व शक्ति साधन प्रदान करूंगा।" एक दिन पाँच हरीतकी (बड़ी हरें) लेकर आश्रम पर गया-साधन प्रदान करने के उपरान्त उन्होंने कहा--"तुम्हारे जन्म-जन्मान्तर के पाप-ताप-आधि-व्याधि को मैंने ग्रहण किया।" इसके पश्चात् एक दिन जब वे अस्वस्थ थे तब उनकी शय्या के निकट बैठकर विचार करता हूँ--महापुरुष को क्यों रोग पीड़ा होती है? तत्क्षण ही मेरे विचार को खण्डित करते हुये वे बोल उठे-"तुम लोगों के लिये।" इससे समझ गया कि उस दिन क्यों कहा था कि तुम्हारे समस्त पाप-ताप आधि-व्याधि को मैंने ले लिया।" एक सन्तान ने इस प्रसंग को सुनाया था।

जो कोई दर्शनार्थी होकर आचार्य के निकट उपस्थित होते थे उन सब ही को मन्त्र या साधन प्राप्त नहीं होता था। योग्य पात्र होने से उसे मन्त्र या साधन प्रदान करते थे। अन्य लोगों को उपदेश प्रदान कर शक्ति संचार कर देते थे। जिससे वे आनन्द व शांति के अधिकारी होते थे।

देश व समाज में इस साधन व आदर्श की प्रेरणा संचार करने के लिये उन्होंने एक व्यापक आन्दोलन की सृष्टि की। अपने संकल्प के वाहक संघ सन्यासीगण को इस प्रकार आदेश दिया– "कठोर तपःसाधना से इस शरीर व मनमें जिस महाशक्ति का स्फुरण हुआ है वहमहाशक्ति समग्र जाति की महामुक्ति लाने में समर्थ है। जाओ-समग्र भारत के नर-नारी आबाल- वृद्ध-वनिता को इस महशक्ति के संस्पर्श में लाओ।"

सन्यासीगण को उत्साहित करते हुये कहते थे-"मनुष्य तर्क-युक्ति,शास्त्र नहीं चाहता। उन्होंने अनेक शास्त्र पढ़े हैं। अनेक भाषण सुने हैं। अनेक वाद-विवाद किया है। परन्तु इन सबसे शांति नहीं मिली। मनुष्य चाहता है–एक जीवन्त आदर्श, एक प्रोज्ज्वल चरित्र, एक निष्कलंक मानव, एक प्रज्ज्वलित शक्ति का पावन स्पर्श, जिनके दर्शन से आत्म स्मृति जाग्रत होगी। जिनके आश्वासन से दुख-कष्ट-यातना से शतधा विच्छिन्न, निराश, अवसन्न हृदय—नवीन शक्ति, उद्यम, उत्साह से पुनः उद्दीपित हो उठेगा। जिनके उपदेश व चिन्तन से स्वेच्छाचारी उच्छृंखल जीवन स्वतः संयत होगा, जिनके स्पर्श और आशीर्वाद से अन्तर्निहित सुप्त सिंहवीर्य जागकर भीम गर्जना कर उठेगा।"

अनेक गृहस्थ दुखी होकर प्रचारक-सन्यासियों को कहते–"स्वामी जी हम लोगों को धर्मलाभ नहीं हो सकता। हम लोग स्त्री-पुत्र-परिवार के साथ

रहते हैं। कितना झूठ सच बोलना पड़ता है, अनीति के मार्ग पर चलना पड़ता है। जो लोग घर द्वार छोड़कर त्यागी हो गये हैं, धर्म उन्हीं लोगों के लिये है।

परन्तु वे लोग आचार्यदेव के इस आश्वासनवाणी को सुनकर प्रोत्साहित हो उठते थे।

"गृहस्थ ! तुम अपने घर में रहो। धर्म के लिये घर द्वार त्यागकर कहीं जाकर योगसाधना या तपस्या नहीं करना होगा जो जिस स्थान पर है, जिस उपार्जन वृत्ति में संलग्न है वह वहीं रहे। धर्म साधन के लिये वहाँ से एक पद भी हिलना नहीं होगा। भारत के ऋषि और भारत के भगवान श्रीकृष्ण ने तुमको स्वधर्म पालन का उपदेश दिया है।

"यह विचार रक्खो कि सायंकाल से प्रातःकाल तक एवं पुनःप्रातः से सांयकाल पर्यन्त जो कुछ करते हो-चिन्ता वाक्य कार्य सब कुछ जगत-जननी की पूजा है। उन्हीं की तृप्ति और तुष्टि के लिये ही है। अनासक्त होकर भगवान के चरणों में सब कर्मफल अर्पण कर पराक्रम के साथ जीवन पथ पर अग्रसर होओ –यही गार्हस्थ्य जीवन की साधना है। तब धर्म और कर्म एक हो जायेगा। उस समय अनुभव करोगे कि श्री भगवान की प्रीति के लिये जो कुछ किया जाय-चिन्ता-वाक्य-कार्य सब कुछ धर्म है। उसी से प्राण-मन-शुद्ध-पवित्र व आनन्दमय हो जाता है।

और भगवान को छोड़कर जो कुछ भी किया जाता है वही पाप और अधर्म है। उससे बन्धन की सृष्टि होती है। उसीसे अशान्ति आती है। चाहिये-भोग में संयम, संकल्प में दृढ़ता कर्त्तव्य में निष्ठा, कर्म में उत्साह, भोग्य वस्तु व जड़सम्पद अनित्य है—इसका ज्ञान आचार्य व गुरु में अविचल श्रद्धा, शास्त्र व सदाचार में दृढ़विश्वास तथा निष्कपट सरल मन प्राण।"—"गार्हस्थ्यम्"

इस प्रकार समाज के सर्व स्तर में नैतिक आन्दोलन प्रसारित होने लगा समाज के अवज्ञात अस्पृश्य, अथवा अनाचरणीय वर्ग के अन्दर इसका प्रचार व प्रसार करने के लिये आचार्यदेव ने कई वर्ष बाद "हिन्दू-समाज-समन्वय आन्दोलन" का प्रवर्त्तन किया। उसका उल्लेख यथास्थान पर किया जायेगा।

संघ-कर्म चक्र का श्रृंखला-विधान

व

संघ की स्थायी प्रतिष्ठा

"धर्म-संस्थापन व जाति गठन" की प्रेरणा व दायित्व लेकर, सर्व नियन्ता के संकल्प-विग्रह-रूप में ही संघनेता आचार्यदेव का आविर्भाव है। वे जिस "धर्मचक्र व कर्म चक्र" का प्रवर्त्तन करेंगे तथा जब तक उनका संकल्पित आदर्श कार्यान्वित नहीं होगा तब तक शत सहस्रों वर्ष तक उसका प्रयत्न विभिन्न सूत्रों द्वारा संचालित होता रहेगा। संघ ही उनके "धर्मचक्र व कर्मचक्र" का शक्ति केन्द्र है। संघनेता के विश्वरूप में पर्यवसान के पश्चात् संघ ही उनका विराट्-स्थूल स्वरूप होगा। इसी विराट् संघ-शरीर में महासंकल्प रूप में स्थित रहकर वे अपने इच्छित कर्म को सम्पादित करते रहेंगे।

अतः संघ-शरीर को दीर्घकाल तक सुदृढ़ एवं सशक्त रखना आवश्यक है। एक ओर जिस प्रकार उन्होंने "नैतिक आन्दोलन व ब्रह्मचर्य साधन" तथा "गृहस्थ जीवन के आदर्श का विस्तार व शक्ति साधना" के आधार पर धर्म संस्थापन का कार्य आरम्भ किया, वैसे ही

दूसरी ओर जातिगठन मूलक कर्मचक्र की विभिन्न योजनाओं को कार्यान्वित करने का अटूट प्रयत्न करते रहे थे। साथ ही साथ तपः शक्ति के आधार पर संघ को सुदृढ़ एवं सशक्त बनाने के लिये सतत चेष्टित थे। पहले ही देखा गया है कि संघ के कर्म के प्रसार के साथ साथ बहुत से त्यागी, कर्मी भी आते गये और निःस्वार्थ कर्मी की संख्या वृद्धि के अनुपात में कर्म का विस्तार व वैचित्र्य भी बढ़ता गया। इन नवागत कर्मियों में से अधिक संख्यक युवकों ने "ब्रह्मचर्य संस्कार" व "सन्यास" ग्रहण किया था। ई० सन् १६२७ में सन्यासी व ब्रह्मचरियों की सख्या साठ तक पहुंच चुकी थी। इसके पश्चात् संख्या और भी द्रुतवेग से बढ़ने लगी। चारों ओर त्याग-संयम-सेवा एवं आध्यात्मिकता का एक नवीन स्रोत प्रवाहित होने लगा।

संघ को सुदृढ़ नींव पर प्रतिष्ठित करने के लिये ई० सन् १६२७ के आरम्भ में तेइस जन प्रवीण सन्यासियों को लेकर आचार्यदेव ने एक 'ट्रस्ट' गठन किया तथा संघ के आदर्श, उद्देश्य व नियमावली की रचना की। तदुपरान्त कानूनन (Under act XXI of 1860) उसे विधिवद्ध Registered कराया। ट्रस्टीगण को लेकर संघ की परिचालक समिति (Governing body) एवं सन्यासी व गृहस्थ सभ्यों को लेकर साधारण समिति (General Committee) की रचना हुई।

संघ की जाति गठन मूलक कार्यावली मुख्यतः पाँच श्रेणी में विभक्त की गईः—

(१) धर्म प्रचार (२) शिक्षा प्रचार (३) तीर्थसंस्कार (४) जनसेवा (५) समाज संगठन। संघ के सन्यासी, ब्रह्मचारी व त्यागी कर्मीगण को उनकी बुद्धि, प्रतिभा; रुचि, संस्कार, शक्ति व योग्यता के

अनुसार विभिन्न उपायों से अभीष्ट भाव से गठित करके एक एक सन्तान को एक एक कर्म-विभाग में नियुक्त किया। आचार्यदेव के निर्देश से संघसन्तान-गण अपना अपना कार्य दायित्व पूर्वक करने लगे।

आचार्यदेव कहते थे–"जितने दिन तक अविराम, अविश्राम प्रचार कार्य चलता रहेगा, उतने दिन तक संघ जीवित रहेगा। प्रचार कार्य में शिथिलता आने से संघ की जीवनी शक्ति क्षोण होती जायेगी तथा प्रचार कार्य के बन्द होने से संघ का जीवन समाप्त होगा। इसी उद्देश्य से संघ के प्रचार कार्य को अप्रतिहत रखने के लिये पहले पाँच फिर सात से दस तक प्रचारक मण्डलियाँ प्रस्तुत की गईं जो कि भारत तथा बहिर्भारत में पंजाब से रामेश्वर एवं सिंगापुर से करांची तक अविराम रूप से संघ की भावधारा का प्रचार करने में तत्पर रहीं।

सर्व द्रष्टा आचार्यदेव ने संघ को अन्यान्य मठ-मिशन से सम्पूर्णतया भिन्न आदर्श पर प्रतिष्ठित किया। एक संघ-सन्तान पर लिखित पत्र में इसका सुस्पष्ट इंगित किया है :—

"यह संघ कोई मठ-मिशन, आश्रम, समिति या Relief centre अथवा Congress Office नहीं है। यथार्थ विवेक-वैराग्यवान मोक्षार्थी के सिवाय यहाँ पर कोई नहीं रह सकेगा।" —संघगीता

संघनेता युगाचार्य जी ने जिस वैशिष्ट्य पर संघ की प्रतिष्ठा की थी यहाँ पर उसकी संक्षिप्त आलोचना करेंगे। धर्म के आधार पर जातिगठन करने के उद्देश्य से उन्होंने संघगठन किया था। अतः समग्र जाति को जिस भाव, आदर्श व पद्धति से अखण्ड रूप में सम्मिलित करना चाहते थे उन्हीं भाव, आदर्श तथा पद्धति समूह को उन्होने संघ में प्रतिष्ठित किया था।

भविष्य में जातिगठन की जो पद्धति होगी उसका सूत्रपात संघगठन के रूप में ही किया गया। एक निपुण स्थापत्य-कला-विशारद की भाँति उन्होंने अपने विराट् विश्व-ग्रासी योजना की उचित रूपरेखा सर्व प्रथम संघ के रूप में प्रस्तुत की थी। आचार्यदेव का कहना है :—

(१) भारतीयजाति-आर्य हिन्दू (ऋषि के वंशज हैं)। भारत का समाज-राष्ट्र-शिल्प वाणिज्य-शिक्षा-सभ्यता सब कुछ ऋषियों द्वारा गठित हुआ है। ऋषियों ने धर्म के आधार पर भारतीय जाति को सुगठित किया था। सहस्रों वर्षों से जातीय जीवन धारा उसी धर्म व आध्यात्मिकता के प्रवाह-पथ पर चलती आ रही है। उसी आध्यात्मिक अनुभूति व धर्म साधन व्यवस्था पर मैं नवीनयुग के उदीयमान भारतीय जाति की प्रतिष्ठा करना चाहता हूँ।

"त्याग, संयम, सत्य ब्रह्मचर्य ही गत धर्म आध्यात्मिकता का मूल मन्त्र है। भारतीय ऋषि ने इसी आदर्श पर हिन्दू के व्यक्तिगत पारिवारिक, सामाजिक, तथा जातीयजीवन को गठित व परिचालित किया था बाल्य, कैशोर व यौवन के प्रारम्भ तक गुरु-गृह में रहना, युवावस्था में शास्त्र व सदाचार के अनुशासन से गार्हस्थ्याश्रम के कर्त्तव्य पालन करना, प्रौढ़ावस्था में गृहस्थी से प्रथक रहकर भगवत् साधना व समाज के हितकर कार्य में संलग्न रहना तथा वृद्धावस्था में सन्यास ग्रहण करना—यही था ऋषि-प्रणीत भारत जीवन का आदर्श व क्रम-विकास। इसी प्रकार संयम व ब्रह्मचर्य, त्याग व तपस्या से भारतीय जीवन आद्योपान्त शुद्ध था। इस हिन्दूजाति का पुनरुत्थान भी इसी मार्ग पर करना पड़ेगा।

संघनेता आचार्यदेव ने इसी लिये संयम व ब्रह्मचर्य, त्याग व तपस्या को सुदृढ़ नियम पर संघ को सुगठित किया।

"शरीर को रक्षा के लिये नितान्त आवश्यक भोजन, वस्त्र व विश्राम के अतिरिक्त अन्य सब वस्तुयें अप्रयोजनीय तथा विलासिता के अन्तर्गत हैं। संघ के इच्छित भाव व दायित्व चिन्तन को छोड़कर अन्य चिन्तन व्यसन के समान है। क्षुधा-रूपी व्याधि के लिये निर्लोभ चित्त से औषधि स्वरूप भोजन करना तथा शरीर रूपी व्रण को आच्छादित करने के लिये साधारण वस्त्र विलासहीनभावना से व्यवहार करनायही सन्यासी का आदर्श तथा संघ का व्रत है" ––संघगीता

संघ के आश्रम, कर्मकेन्द्र तथा प्रचारक मण्डली में सन्यासी, ब्रह्मचारी तथा कर्मचारियों के लिये साधारण दाल, भात व शाक ही भोजन रहा। कौपीन बहिर्वास तथा उत्तरीय यही सबका परिध्येय रखा गया। प्रतिदिन बारह, चौदह घन्टे काम तथा तीन-चार घन्टे जप-ध्यान प्रार्थना प्रत्येक को करना ही पड़ेगा, ऐसा ही निश्चित किया गया।

(२) शिराओं के द्वारा जिस प्रकार समस्त अंग-प्रत्यंग मस्तिष्क के साथ संयुक्त है; मस्तिष्क ही सब चेष्टाओं का नियामक है। उसी प्रकार संघ-नेता आचार्यदेव ही संघ के प्राण-शक्ति स्वरूप, संचालक व व्यवस्थापक हैं। संघ के सभी सन्यासी ब्रह्मचारी आचार्यदेव के अंग-प्रत्यंग हैं तथा अविच्छिन्न-रूप से आचार्य के साथ युक्त हैं। वे जहाँ कहीं जिस अवस्था में रहेंगे—संघ-नेता की शक्ति व उनका आशीर्वाद उनके साथ रहेगा। उनके ही आदेश उपदेश व निर्देशानुसार वे सबके सब चलेंगे। किसी भी प्रकार के कार्य में किसी की स्वेच्छा बुद्धि (Choice) नहीं रहेगी। आचार्य ही सबके शुभाशुभ की चिन्ता व कल्याण विधान करेंगे।

"तुम लोगों को जिस स्थान में रखकर जिस कर्म में नियुक्तकरने से तुम लोगों की आत्मशक्ति उद्‌बुद्ध होगी तथा आत्मतत्त्व उपलब्ध होगा—ठीक उसी स्थान पर रखकर उसी प्रकार के कर्म के माध्यम से परिचलित किया जा रहा है और ऐसा ही किया जायेगा।"

"तुम लोगों के नैतिक व आध्यात्मिक जीवन गठन के लिये जैसे सुरक्षित स्थान की आवश्यकता है—अर्न्तदृष्टि-सम्पन्न आचार्य तुम लोगों को स्थान में रखकर तुम लोगों के प्रत्येक की प्रकृति के अनुसार आदेशउपदेश दे रहे हैं।"

"संघनेता के विराट् व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को निःशेषरूप से विलीन कर एकमन एक-प्राण, एक-चिन्ता, एक संकल्प हो जाना ही संघ-संतानों की साधना है" संघगीता—

(३) संघ का सम्पूर्ण अर्थ, कर्मी व कर्मधारा सब कुछ मूल केन्द्र (Central office) से ही नियन्त्रित होंगे। आवश्यकतानुसार मुख्यकेन्द्र के निर्देश से सब अर्थ व कर्मीगण जिस किसी कार्य में, जिसकिसी स्थान में किसी भी समय एकत्र व सम्मिलित किये जा सकेंगे।

(४) वर्ष में कम से कम दो बार सब सन्यासी, ब्रह्म-

चारी व कर्मीगण को एकत्र होकर संघ के आदर्श, उद्देश्य व कर्मपद्धति पर विचार-विमर्श करना होगा।

(५) संघ के ऊपर बाहर के किसी व्यक्ति का स्वल्प-मात्र भी प्रभाव पड़ सके—ऐसे किसी भी दान व सहायता को ग्रहण करने का निषेध है। समग्र भारत के नगरों, ग्रामों तथा घरों से अर्थ व अन्न इत्यादि भिक्षा करके ही संघ का कार्य निर्वाह होगा। इसकी उपयोगिता निम्नलिखित है:—

(क) संघसन्तानों को प्रतिदिन भिक्षार्थ घर घर में जाना पड़ेगा तथा देशवासियों को संघ के आदर्श, उद्देश्य समझाकर अर्थ-संग्रह करना होगा। (भिक्षा ही सन्यासी का धर्म है, विशेष कर यह भिक्षा तो अपने लिये नहीं वरन् बहुजन हिताय है)। इससे संघ-संतानों के दैनन्दिन जीवन में भी किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आयेगी। संघ कर्मीगण के जीवन में किसी प्रकार का व्यसन असंयम अथवा आलस्य जड़ता इत्यादि परिलक्षित होने से जनसाधारण उसके प्रतिकार के लिये चेतावनी देंगे।

(ख) जनसाधारण के साथ संघ का संबन्ध अच्छिन्न रहेगा तथा संघ का प्रचारकार्य अप्रतिहत रूप से चलता रहेगा।

(६) किसी सम्प्रदाय, आश्रम, मठ या प्रतिष्ठान से संघ का किसी प्रकार द्वेष या विरोधभाव नहीं रहेगा। प्रत्युत जब जिन्हें सहायता की आवश्यकता होगी तब संघ उन्हें सहयोग प्रदान करेगा।

(७) संघ-सन्तानगण सर्वदा-सर्वत्र सबकार्य समवेत रूप से करेंगे। विशेष निर्देश या व्यवस्था के बिना कोई कहीं पर भी एकाकी नहीं जायेंगे या व्यक्तिगत रूप से कोई कार्य नहीं करेंगे।

इस प्रकार आचार्यदेव ने पृथक पृथक व्यक्तित्व को एकत्रित कर एक ओर उन्हें अखण्डरूप से संघबद्ध किया। परन्तु प्रत्येक को उसके क्षेत्र में कार्य करने की स्वतन्त्रता भी दी। सभी संघ-सन्तान आचार्यदेव के प्रति श्रद्धा-भक्ति विश्वास तथा अनुरक्ति व तत्परता के सूत्र द्वारा युक्त रहने के कारण उनमें परस्पर एकता व एक प्राणता का सम्बन्ध भी स्थापित हुआ।

"संघ के सिद्धांत व दर्शन पर प्रकाश डालते हुये आचार्यदेव कहते थे—"बौद्धसंघ के पश्चात् ढाई हजार वर्ष तक संघ क्या वस्तु है—भारतवर्ष ने नहीं जाना। बौद्धसंघ के उत्तरकाल में अनेक आश्रम, मठ, सम्प्रदायों का उद्भव हुआ, परन्तु उनको संघ (Organisation) नहीं कहा जा सकता। वे सब प्रतिष्ठान (Institution) हैं। संघ एक जीवन्त मनुष्य की भाँति (Living organism) है। भीतर में जैसे एक ही जीवात्मा (Spirit) अवस्थान पूर्वक मन-बुद्धि से आरंभ कर शरीर के समस्त अवयवों को परिचालित कर रहे हैं। संघ के अभ्यन्तर में भी एक ऐसो ही जोवन्त शक्ति का अधिष्ठान होता है। बुद्ध ही बौद्धसंघ की आत्मा थे; उनके संकल्प व प्रेरणा से, उनके नीति-निर्देश से उन्हीं के

प्रति एकलक्ष्य होकर समग्रसंघ, एक तान, एक लय, एक छन्द से गतिमान था। बुद्धिं शरणं गच्छामि"-यही मूल मंत्र था। मेरा संघ होगा–दूसरा बुद्ध का संघ। यहाँ पर एक आचार्य का ही प्रचार व प्रतिष्ठा है। आचार्य में आत्म-सर्मपण करके समग्रसंघ एक जीवित मनुष्य की भाँति विकासशील होगा। सब कोई आचार्यगत प्राण, आचार्य या भिमुखी होकर कर्त्तव्य सम्पादन करेंगे। आचार्य के निर्देश से संघ की सारी शक्ति व सम्पद (Strength and resources) उनके अभिप्रेत कार्य में नियोग किया जायेगा। उनकी इच्छा व निर्देश के बिना कोई कार्य भी नहीं हो सकेगा।"

नवीन जर्मनी के नेता हिटलर के प्रसंग में आचार्यदेव कहा करते थे कि हिटलर ने इस संघसाधना के रहस्य को विशेषरूप से अनुभव किया है। इसी से वह समग्र जर्मनी को संघबद्ध कर सका है। हिटलर की महती शक्ति का मूल-उत्स यहीं पर है। राष्ट्रीयक्षेत्र में हिटलर ही यथार्थ संघनेता है। हिटलर के उद्देश्य के विषय में कोई कुछ भी कहे, परन्तु हिटलर की शक्ति-व्यूह रचना की प्रतिभा व संगठन नीति की प्रशंसा कौन नहीं करेगा?

आचार्यदेव कहते थे—"अधिक इधर उधर की पुस्तकों को पढ़ने से व वृथा आलोचना करने से मन बहिर्मुखी हो हो जाता है। इससे काम नहीं होता। कर्मशक्ति नष्ट हो जाती है। ज्ञान क्या बाहर है? ज्ञान मनुष्य के अन्तर में है। आत्मा ही अनन्त ज्ञानमय है। मन को प्रतिनियंत आचार्य

के अनुगत, गुरुमुखी करके यदि रख सकोगे तो मेरी इच्छा से ही प्रेरणा व बुद्धि जाग्रत होगी । मेरे ज्ञान से ही हृदय आलोकित हो उठेगा ।"

आचार्यदेव के संकल्प के आकर्षण से विभिन्न स्थानों से अनेक कर्मी आने लगे । **आचार्यदेव कभी भी स्पष्ट आदेश-निर्देश द्वारा कर्मीगण के मन में भावों को जाग्रत नहीं करते थे । आशीर्वाद से शक्तिसंचार कर स्वीय अभिप्रेत भाव व आदर्श को आश्रित सन्तान के अन्तर में प्रवेश कराते थे व इच्छित कार्य करा लेते थे । यह प्रणाली** देखकर आचार्यदेव के भक्त स्वर्गीय योगेन्द्रनाथसिंह जो कि अवसर प्राप्त मैजिस्ट्रेट थे-इस प्रकार कहते थे-शास्त्र में जो वाणी है-
"गुरोस्तु मौन-व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशया:"-इस वाणी की यथार्थ सत्यता आप में पाई जाती है । आपके उपदेश की अपेक्षा-आपको मौन स्थिति में देखकर हमारे मन में अनेक प्रकार के भावों का स्फुरण होता है ।"

आचार्यदेव अपने सन्यासी-ब्रह्मचारी व आश्रित सन्तानों को सर्वदा गुरुमुखी होकर चिन्ता व कार्य करने की शिक्षा देते थे । उनका कहना था--

"मेरे अन्तर में जब जो भाव जाग्रत होता है-उसी समय तुम लोगों के हृदय में भी वही भाव क्यों नहीं जाग्रत होगा ? गुरु शिष्य का सम्बन्ध भाव का सम्बन्ध है। भाव के व्यवधान व अभाव सेभूल-भ्रान्ति आकर तुम लोगों को विचलित करती है।"

संघनेता आचार्यदेव का प्रचार अभियान

संघ को सुदृढ़ एवं सुप्रतिष्ठित तथा उसके विभिन्न कर्मविभाग को सुनियन्त्रित करके आचार्यदेव ने अपनी आध्यात्मिक शक्ति-तरंग व प्रेरणा प्रवाह को चारो ओर समाज के प्रत्येक स्तर में प्रवाहित करने का संकल्प किया। निकट भविष्य में आचार्यदेव भारत में महाशक्तिशाली अखण्ड आर्य हिन्दू जातिगठन की जो व्यापक जातिगठनमूलक कर्म व साधना-धारा प्रवर्त्तन करना चाहते थे, उसी का क्षेत्र प्रस्तुत कर जाति को शनैः शनैः उसी ओर परिचालित करने का आयोजन करने लगे।

अतः उन्होंने सर्व प्रथम आर्य हिन्दू जाति के जीवन का आधार-उसके धर्म-शिक्षा-साधना-संस्कृति की नींव-"त्याग-संयम-सत्य-ब्रह्मचर्य" की वाणी का प्रचार तथा उसकी प्रतिष्ठा की व्यवस्था की। उस आदर्श पर चलने की शक्ति प्राप्त कर सकें इसलिये बालक और युवकों में "ब्रह्मचर्य-साधन" तथा गृहस्थों में "शक्ति-साधना" विस्तार करने का व्यापक आयोजन किया। कारण सर्व प्रथम लक्ष्य, आदर्श व उद्देश्य के विषय में स्थिर सिद्धान्त को स्वीकार करना चाहिये। तत्पश्चात्-उस लक्ष्य पर पहुँचने के लिये, उस आदर्श को प्राप्त करने तथा उद्देश्य को फलीभूत करने के लिये-गुरु-ग्रहण तथा साधन-पद्धति की आवश्यकता होती है। इसीलिये आचार्यदेव ने सर्वप्रथम जातिगठन के क्षेत्र में

आदर्श का बोजस्वरूप ब्रह्मचर्य व गृहस्थ्य जीवन के आदर्श व साधन-पद्धति की शिक्षा देने की व्यवस्था की। इस अध्याय में इसी विषय पर प्रकाश डाला जायेगा।

ई० सन् १६२८ में शिवरात्रि की पुण्य तिथि से आचार्यदेव की करुणा का उत्स समाज के गृहस्थ नर-नारी के लिये उन्मुक्त हो गया। इसका उल्लेख पहले ही किया गया है। उसी दिन से महान संकल्प के आसन पर अधिष्ठित होकर सहस्रों नर-नारी को उपदेश, आशीर्वाद, साधन-दान तथा शक्ति-संचार करने लगे। इस समय उनका आहार-निद्रा व विश्राम नाम मात्र को ही था। अहर्निश एक ही ध्वनि चलती थी :—

"सब को यहाँ बुला लाओ।"

रात्रि के तीन बजे पूजा-आरती ग्रहण करके आसन पर उपविष्ट होकर ग्यारह बजे तक तथा पुनः अपराह्न के तीन बजे से मध्यरात्रि तक उनका अविराम दर्शन, साधन, उपदेश व आशीर्वाद-दामन चलता था। जब तक वे आसन पर रहते थे तब तक "संघं शरणं गच्छामि" या "गुरु कृपा हि केवलम्" कीर्त्तन व अन्य अनेक भजन-संगीत इत्यादि होते रहते थे। दर्शनार्थी उस भजनानन्द में तन्मय हो जाते थे। आचार्यदेव योग्य आधार समझ कर सब को यथायोग्य उपदेश व आशीर्वाद देते थे। उपर्युक्त योग्य आधार मिलने पर साधन व शक्ति संचार करते थे। दिवारात्रि एक ही भावावेश में रहते थे। उस समय ऐसा ही लगता था मानो मुक्ति का अमृत-भण्डार मुक्त हस्तों से दान करने के लिये स्वयं करुणावतार विराजमान हैं।

मार्च के महीने तक इसी प्रकार चलते रहने से आचार्यदेव के शरीर का निम्न भाग अवश होगया। चिकित्सकों ने "सायटीका" रोग बताया। तथा वायु

परिवर्त्तन का परामर्श दिया। इसके लिये उनसे प्रार्थना व अनुरोध किया गया परन्तु उन्होंने कुछ ध्यान ही न दिया। चिकित्सकों की पुनः पुनः चेतावनी देने पर राँची में एक मकान की व्यवस्था की गई। आचार्यदेव ने भी कोई आपत्ति नहीं की। सन्यासी सन्तानगण मन ही मन प्रसन्न हुये कि आचार्यदेव का स्वास्थ्य अब सुधर जायेगा। परन्तु राँची पहुँच कर भी उन्होंने वही क्रम चालू किया। भजन-कीर्त्तन, भाषण व सहस्रों नर-नारी को दर्शन, उपदेश व साधन आशीर्वाद प्रदान, और वहाँ केवल एक सप्ताह निवास किया।

ई० सन् १६२८ के मार्च महीने में वे राँची गये थे, यही उनका पहला प्रचाराभियान था। जब वहाँ पर भी उन्हें अविराम परिश्रम करते देखा, तब कतिपय सन्तानों ने चिकित्सकों के मतानुसार उनसे विश्राम लेने की प्रार्थना की। उस पर वे कहने लगे–"डाक्टर-वैद्य इस शरीर की स्थिति क्या समझ सकते हैं। परिश्रम से ही यह शरीर गठित हुआ है, परिश्रम से ही यह शरीर स्वस्थ होगा। काम काज बन्द करके विश्राम करना यह तो महान पाप है।"

राँची में एक महाभाव का तरंग उठाकर वे मुंगेर जमालपुर, हजारी-बाग, पुरुलिया, वर्द्धमान, भागलपुर, यशोहर, पूर्णिया इत्यादि शहरों में गये। सभी स्थानों में धर्म व आध्यात्मिकता का प्रबल प्रभाव विस्तृत हुआ। परन्तु आश्चर्य यही था आचार्यदेव प्रत्येक स्थान पर अत्यंत अल्पदिन ही बिश्राम रखते थे। इस पर बहुत से लोगों के खेद प्रगट करने पर जनता की यह प्रार्थना उनको निवेदन की गई। इस पर उन्होंने कहा– "समय कहाँ है ? और समय रहने से ही क्या ठहरना

चाहिये ? आग्रह, आकांक्षा, उत्कण्ठा जाग्रत करने के लिये ही यह आस्वादन दान करता हूँ । अब जिसको यथार्थ तृष्णा होगी वह अवश्य ही व्याकुल होकर अन्वेषण करेगा । एक भाव व आदर्श का तरंग उठाया गया है । इसी के माध्यम से क्रमशः सब ठीक होगा । आग्रह, आकांक्षा व व्याकुलता रहने से कोई कहीं भी रहे-मेरी शक्ति व सहायता उसे अवश्य ही प्राप्त होगी ।"

और एक समय उन्होंने कहा-**मैं क्या गुरुगिरि का व्यापार कर रहा हूँ ? कौन धर्म को चाहता है ?** कितने लोग धर्म को समझते हैं ? देश को जिस वस्तु की आवश्यकता है मैं वही कर रहा हूँ । नीति व धर्मभाव के वातावरण को प्रस्तुत करने के लिये ही मेरा यह प्रयास है । मेरे तपःप्रभाव को संचारित कर मैं इस वातावरण की सृष्ठि कर रहा हूँ ।

आचार्यदेव बालक व युवकगण को वीर्यधारण तथा नीति-नियम पूर्वक चलने का उपदेश व साधन देते थे । गृहस्थों को इन्द्रिय-संयम व सदाचार का उपदेश तथा शक्ति साधना देते थे । पुत्र कन्याओं को माता-पिता के प्रति भक्ति व सेवा की प्रेरणा व स्त्रियों को पातिव्रत धर्म की शिक्षा देते थे । मोक्षार्थी को मन्त्र व दीक्षा देते थे, देशप्रेमिक नेता को देश व जाति के कल्याण के मार्ग का निर्देश देते थे । इस लिये सब श्रेणी के व सब मतवाद के नर-नारी आचार्यदेव के चरणों में आकृष्ट होते थे । वे सभी के प्रिय, आराध्य, हितैषी उपदेष्टा व गुरु थे ।

प्रत्येक स्थान पर सहस्रों नरनारी उनके दर्शनार्थ आते थे। प्रत्येक के मन में केवल एक धार्मिक प्रेरणा ही नहीं होती थी। कितने तो छल-चातुरी से भी आते थे। कितनों के मन में विरोधपूर्ण भाव भी रहता था। ऐसे अवसर पर कई घटनायें अत्यन्तउल्लेखनीय बनो थीं। ऐसा देखा गया है कि कितने हो विरोधी मनोभाव लेकर आने वाला व्यक्ति भी जब उनके दर्शन करता तब उसके अन्तःकरण का आमूल-परिवर्त्तन हो जाता था। हजारीबाग में राखाल बाबू नाम के एक वकील थे। जब आचार्यदेव उस शहरमें गये तो प्रचारकों ने उन्हें बुलाया। परन्तु वे न आये। अन्त में अनेकबार बुलाने से जब आये तब आचार्य के दर्शनमात्र से ही उन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया। उसी समय वहाँ के कालेज के एक अध्यापक ने एक सन्यासी को बहुत हैरान किया परन्तु जब आचार्यदेव के दर्शन हुये तब वे इतने प्रभावित हुये कि अपनी सहधर्मिणी के साथ आकर साधन ले गये।

प्रचार के प्रसंग में जब यशोहर शहर में गये तब वहाँ के एक कांग्रेस कर्मी ने आचार्यदेव के नाम पर बहुत कुछ अपवाद प्रचार किया। तथा साधु को अच्छी तरह से विव्रत करना चाहिये-इस मनोवृत्ति से उनके पास पहुँचा। अन्त में दर्शन से इतना अपूर्व परिवर्त्तन हुआ कि वही सज्जन अपने मित्र-मण्डल को लेकर शहर में प्रचार करने निकले कि सब को इन महापुरुष का दर्शन करना चाहिये—इतनी महान विभूति का हमारे नगर में कभी आगमन नहीं हुआ।

पुर्णिया शहर में आचार्यदेव की अलौकिक महिमा रही-वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों में से अधिक संख्यक ने उनकी कृपा प्राप्त की थी। स्वः रायबहादुर ज्योतिशचन्द्र भट्टाचार्य का नाम इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। वे असाधारण

प्रतिभाशाली थे । आचार्यदेव के दर्शनमात्र से ही उन्हें दृढ़ विश्वास हो गया कि वे उनके इष्टदेव साक्षात् भगवान शंकर ही हैं और उसी समय उन्होंने सस्त्रीक उनके चरणो में आत्म-समर्पण किया । उनकी स्त्री ने अपने एक निबन्ध में लिखा है :—

"बीस साल से मेरे हाथों में ऐक्ज़ीम (Ecxema) का घाव था। यथा-शक्ति दवा करने पर भी कुछ आराम न होता था। हाथ में पट्टी बँधी थी, देखकर गुरुमहाराज ने पूछा-"हाथ में क्या हुआ है ?" घाव के विषय में कहने से उसको खोलने का आदेश दिया ! तथा मेरे हाथ में हरीतकी (हरें) व जल देकर अपने (आचार्यदेव के) चरणों में चढ़ाने को कहा। ऐसा करने पर कहने लगे–"तुम्हारे जन्म-जन्मान्तर के पाप-ताप को मुझे देदो। आज से तुम निष्पाप हो। तुम हमारी बहुत जन्म की सन्तान हो।" मैंने प्रश्न किया—"पिताजी ! क्या यह अच्छा हो जायेगा।" इस पर कहा–"हाँ ! अच्छा हो जायगा।" वास्तव में वैसा ही हुआ।

एकदा कलकत्ते में एक नवीन शिक्षित सज्जन कुतूहलवश ही उनके पास आये। परन्तु सम्मुख आते ही अपने आप ही नतमस्तक हो गये। तब आचार्यदेव ने फूल-बिल्वपत्र लेकर दूसरे दिन उन्हें आने के लिये कहा। उसपर उन्होंने कहा—"मुझे कोई मन्त्र-तन्त्र या दीक्षा नहीं चाहिये।" इस पर आचार्यदेव ने उत्तर दिया–"नहीं दीक्षा नहीं दूंगा—तुम्हारे दूसरे गुरु हैं।"

दूसरे दिन जब फूल-बिल्व पत्र लेकर आश्रम में पहुँचा तब आचार्यदेव ने एक मन्त्र दिया तथा आदेश दिया कि आज संयम व सदाचार से रहना। परन्तु उसने हठकर के होटल में जाकर अभक्ष्य मांसादि

भोजन किया तथा मन्त्र का भी जप नहीं किया। उसी दिन से उन्हें खाँसी व जुकाम आरम्भ हो गया किसी प्रकार की औषधि, चिकित्सा से कोई आराम नहीं हुआ। तब अन्त में यही विचार आया कि महापुरुष की अवज्ञा की है- अतः इसी अश्रद्धाका यह परिणाम है। तत्पश्चात् पुनः उसी मन्त्र का जप करना आरम्भ किया और आश्चर्य की बात है कि क्रमशः स्वस्थ होने लगा। थोड़े दिन बाद उन्होंने कुलगुरु से दीक्षा ली दीक्षा के उपरान्त आश्चर्य की बात यह हुई कि आचार्यदेव का दिया हुआ मन्त्र सम्पूर्णतया भूल गये। और अत्यन्त प्रयत्न करने के उपरान्त भी पुनः स्मरण नहीं कर सके।

इस समय आचार्यदेव की भागवती करुणा तथा आशीर्वाद की जान्हवी धारा प्रबल रूप से प्रवाहित हुई। असंख्य बाधा-विपत्ति का सामना करते हुये वे मेदिनीपुर, कटक, पुरी, बालेश्वर, कुष्टिया, पटना, नारायणगंज, ढाका, मैमनसिंह, बहरामपुर, गया, काशी, खुलना इलाहाबाद, राजशाही, मुजफ्फर-पुर, गाजीपुर. छपरा इत्यादि बंगाल, बिहार, उड़ीसा, तथा उत्तर प्रदेश के छोटे-बड़े अनेक शहरों में प्रचाराभियान करने लगे। सब ही स्थानों पर भजन कीर्त्तन, सभा समितिका आयोजन होता था। तथा सभी श्रेणी के सहस्रों नरनारी आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये आते थे। जीव कल्याण के लिये उद्ग्रीव आचार्यदेव अटूट धैर्य, असीम सहन-शीलता, अनन्त करुणा एवं असाधारण परिश्रम के साथ दिन रात सब को एक एक करके पारिवारिक व सामाजिक कल्याणकर आदेश-उपदेश-निर्देश तथा साधन दान व शक्ति संचार करते थे।

कितने ही व्यक्ति तर्क करने की बुद्धि से आते परन्तु दर्शन के साथ ही मन्त्र-मुग्ध नाग की भाँति मौन धारण कर लेते थे। संशय भँवर में आबद्ध हुये को समाधान के लिये प्रकाश प्राप्त होता था। कितने गर्वोन्नत मस्तक

अश्रुधारा बहाते हुये चरणों में झुक जाते थे। कितनों की विद्वत्ता का अभिमान चूर चूर हो जाता था तथा वह विनीत भक्त बन जाते थे। इन सभी प्रसंगों का आलेखन किया जाय तो विशाल ग्रन्थ की आवश्यकता होगी। जिन लोगों को यह देखने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ उनके लिये कल्पना करना भी असम्भव है।

कभी कभी कथा प्रसंग में आचार्यदेव कहते थे–"किस उद्देश्य से मैं क्या कर रहा हूँ उसे कौन समझ सकता है? जो जितना समझ सकता है उसे उतना ही कहना चाहिये। वास्तविक उद्देश्य अभी व्यक्त करने से लोगों की समझ में नहीं आयेगा, वे कुछ भी समझ नहीं सकेंगे। विभिन्न भाव व परिस्थितियों के द्वारा क्रमशः देशवासियों को सब समझा देंगे।"

यहाँ पर यह प्रश्न आ सकता है कि–'दीक्षा' व 'साधन' इनमें पार्थक्य क्या पार्थक्य है। साधारण भाव से शक्ति संचार करना साधन प्रदान का उद्देश्य है। अनेक जन्मों के आश्रित साधक सन्तान को सर्वतोरूपेण आत्मसात् करना और उसको जीवन के अन्तिम सोपान पर पहुँचाना–'दीक्षा' का उद्देश्य है।

आचार्यदेव कहते थे–"दीक्षा के अधिकारी तो सब नहीं होते। अवस्थानुयायी साधन सबको दिया जा सकता है। किन्तु दीक्षा जिसे दूंगा समझना होगा–इसका सब भार मैंने

ग्रहण किया है। उसकी उन्नति (Progress) होगी ही। वह मुक्ति के द्वार पर आ पहुँचा है।

परवर्ती अध्याय में हम लोग आचार्यदेव के जाति गठन आन्दोलन के तृतीय तरंग पर ध्यान देंगे। यह तरग और भी व्यापक व उत्ताल है।

जातीय जीवन में गुरु-शक्ति का संचार
व
गुरु-पूजा की प्रतिष्ठा

संघनेता आचार्यदेव धर्म-साधना व वैदिक आदर्श के आधार पर भारतीय जातिका पुनर्गठन व पुनः प्रतिष्ठा चाहते थे। इस आन्दोलन की प्रथम भूमिका "जनसेवा" व "समाज-सेवा" के आदर्श पर प्रतिष्ठित हुई। उसके दो भाग हुये। आचार्यदेव स्वयं उन दोनों के केन्द्र स्वरूप थे।

पहले ही देखा गया है कि संघनेता जन्मसिद्ध आचार्य थे। सर्वनियन्ता की विशेष इच्छा व विधान से विश्वकल्याण के उद्देश्य को लेकर आचार्य-रूप में उनका जन्म हुआ था। जिनका चरित्र आजन्म निष्कलंक एवं सर्वांग पूर्ण है वही आचार्य कहला सकते हैं। वे जीवन भर अपने चिन्ता- वाक्य-कार्य द्वारा भारतीय जाति के शिक्षा-साधना आदर्श-उद्देश्य व कर्त्तव्य का स्पष्ट-इंगित देते गये। १९२३ ई० में उन्होंने आचार्यरूप में आत्म प्रकाश किया।

आचार्य ही वेद मूर्ति हैं

ब्रह्मज्ञ आचार्य ही भारतीय आदर्श-शिक्षा साधना-संस्कृति के मूर्तिमान स्वरूप है। उनके वाक्य ही वेद-वचन

हैं। उनका प्रदर्शित व अनुष्ठित मार्ग ही अभ्रान्त सत्य-पथ है उनका आचरण ही सदाचार है। उनका अनुशासन ही शास्त्र है। उनका दिव्य जीवन व उनकी अलौकिक लीला ही शास्त्र का प्रमाण व धर्म का आधार है। 'आचार्य' ब्रह्मवित् हैं अतः वे 'ब्रह्मैव' ब्रह्म स्वरूप हैं। वे ही नरदेहधारी साकार ब्रह्मया भगवान् है। उनकी पूजा-अर्चना, उनके ध्यान धारणा-अनुसरण, अनुकरण, सेवा, सुश्रुषा के द्वारा उनका आध्यात्मिक भाव, तपःशक्ति व चरित्र की महिमा अनुगामी, अनुरागी शिष्य के जोवन में प्रकाशित होती है। यही वैदिक आदर्श व साधना आर्य संस्कृति का मूल तत्त्व है।

विचार करने से देखा जाता है कि ब्रह्मज्ञ आचार्य को अवलम्बन करके ही भारतीय जाति का व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, शिक्षा संस्कृति सब कुछ गठित हुआ था। आचार्य ही भारतीय जाति के व्यष्टि व समष्टि जीवन की शक्ति व प्रेरणा के मूल उत्स थे। वैदिक संस्कृति की यही मुख्य विशेषता है जो कि अवैदिक संस्कृति में नहीं पाई जाती! आज हम यह नहीं समझते तथा इस तत्व पर विश्वास भी नहीं रखते हैं इसीलिये हम लोगों की जाति-समाज व राष्ट्रगठन-की कल्पनायें व चेष्टायें केवल विष-वृक्ष में परिणत हो रही हैं।

गुरु-गृह में ही आर्य बालक त्याग-संयम-सत्य ब्रह्मचर्य के आदर्श पर जीवन गठन करता था। गृहस्थ जीवन में भी वही आदर्श उसे सब दायित्व को प्रोज्ज्वल रूप से सम्पादन करने की प्रेरणा देता था। इन्द्रिय-भोग सुख के लिये उसका गृहस्थ जीवन नहीं था प्रत्युत सुसन्तान की उपलब्धि के लिये

ही उसका विवाह होता था। उसका अर्थोपार्जन विलास व्यक्तिगत-व्यसन के लिये नहीं अपितु परिवार, समाज व जाति की सेवा के लिये पवित्र कर्त्तव्य समझा जाता था। आचार्यगण ही राजा व सम्राट के जीवनरथ के सारथि थे। महर्षि वशिष्ठ-सूर्य वंश के, महर्षि व्यासदेव-चन्द्रवंश के, भिक्षु उपगुप्त-अशोक के, गुरु रामदास-शिवा जी के, अभिभावक व परिचालक थे।

अतः विचार करने से देखा जाता है गुरुवाद ही भारतीय जाति का चरमवाद है। ब्रह्मज्ञ गुरु को अवलम्बन करके ही भारतीय व्यक्ति व जाति के जीवन का आदि-मध्य-अन्त-गठित व परिचालित होता आ रहा है। आचार्य पूजा व आचार्य सेवा ही वैदिक संस्कृति का मूल तत्त्व है। आचार्य चाहते थे—भारतीय जाति का आमूल संस्कार व संगठन। संघनेता आचार्यदेव भारतीय जाति का नख-शिख परिवर्त्तन चाहते थे। सहस्रों वर्षों से समयानुसार संशोधन व सामयिक परिवर्त्तन तो होता ही आ रहा है तथा जाति व समाज रक्षा की चेष्टा भी होती आ रही है। स्वामी विवेकानन्द भी कहते थे—"I want root and branch reform" आचार्यदेव भी इसका सम्पूर्ण स्वरूपान्तर-संशोधन (Overhauling) चाहते थे।

अतः आचार्यदेव ने जाति को वैदिक आदर्श के आधार पर गठन करने का आयोजन किया। आचार्यवरण, गुरु-पूजा, गुरुशक्ति का आश्रय ग्रहण कर जीवन गठन व जीवन व्यतीत करना ही वैदिक आदर्श का आधार है।

गुरु-पूजा के प्रचार की व्यवस्था

अलौकिक आचार्य ने अनुभव किया—"श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" अर्थात् श्रद्धा का जागरण नहीं होने से कोई उपदेश, आदर्श या साधना फलीभूत नहीं

हो सकती। जाति के जीवन में यह श्रद्धा परम आवश्यक है। इसलिये गुरु-पूजा का विराट समारम्भ व व्यापक प्रतिष्ठा चाहिये। विद्युत संचालित प्रकाश को प्रगट करने के लिये–जैसे विद्युत शक्ति के भण्डार (Power House) के साथ संयोग साधन करना पड़ता है; उसी प्रकार जाति में नवीन जीवनी-शक्ति व पवित्र-प्रेरणा संचार करने के लिये अलौकिक तपःशक्ति के आधार आचार्य के साथ सम्बन्ध स्थापन करना अतिशय आवश्यक है। गुरु-पूजा ही इस सम्बन्ध स्थापन का उपाय है। अतः आचार्यदेव ने सर्वप्रथम अपने संघ के त्यागी सन्यासी सन्तानों में गुरु-पूजा का भाव-आदर्श और अनुष्ठान का पूर्णरूप देकर देश के सहस्रों नरनारी में उस भाव, आदर्श व अनुष्ठान के प्रचार व प्रतिष्ठा की व्यापक व्यवस्था की।

गुरु-पूजा का अनुष्ठान

भूत भविष्य के ज्ञाता-ब्रह्मज्ञ आचार्य निर्दिष्ट समय के लिये इस जगत में आते हैं। समय पूर्ण होने से ही वे स्थूल शरीर का त्याग करते हैं। अतः निर्धारित समय में संकल्पित कार्य सम्पन्न करना अपरिहार्य हो जाता है। इस लिये वे ऐसा उपाय अवलम्बन करना चाहते थे जिससे अल्प समय में करोड़ों नरनारियों में उनका महाभाव व महाशक्ति संचारित हो सके।

इस उद्देश्य से संघ-प्रतिष्ठित आश्रमों में वार्षिक महोत्सव, दुर्गापूजा होली, दिवाली, वासन्ती पूजा, चड़क पूजा, शिवरात्रि, जन्माष्टमी, इत्यादि पुण्य अवसरों पर विराट् समारोह के साथ विभिन्न प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों का आयोजन किया जाता था। रथयात्रा, पितृपक्ष, अन्नकूट, हरिहर क्षेत्र तथा कुम्भ प्रभृति विराट् मेले के समय पर भी समारम्भ के साथ गुरु–पूजा का अनुष्ठान तथा जातिगठन मे गुरु–पूजा की क्य।

आवश्यकता है इन सब विषयों पर मार्मिक एवं सारगर्भित व्याख्यानों की व्यवस्था की जाती थी।

उस समय आचार्यदेव घन्टों प्रहर पर पहर पूजा के आसन पर बैठकर सहस्रों नर-नारियों का भक्ति अर्घ्य ग्रहण पूर्वक सब का शिर स्पर्श कर आशीर्वाद व शक्ति संचार करते थे। ऐसे महान अवसरों पर उपस्थित लाखों करोड़ों भक्त नर-नारी उनको साक्षात् वराभयदाता शिवरूप में दर्शन, मनन व प्रार्थना करके भावावेश में तल्लीन हो जाते थे। व्याघ्र चर्म पर त्रिशूलधारी, रुद्राक्ष मण्डित, नीलकंठ के वेश में स्थित विशाल-शरीर विराट्-पुरुष को देखकर सब उनको कैलाशाधिपति ही मानते थे।

आत्मसमर्पण योग

आचार्यदेव बारम्बार कहते थे:-

"एक एक युग में एक एक आचार्य आते हैं। वे अलौकिक कठोर तपः साधन करके मानव की मुक्ति का द्वार उनमुक्त कर जाते हैं। मुमुक्षु नरनारी को उस समय कठोर योग-यज्ञ तपस्या की आवश्यकता नहीं रहती। तब केवल उन महान आचार्य की शरण में आकर माता के प्रति दुग्ध पीने वाले शिशु की भाँति निर्भरशील रहने से आचार्य की अहैतुकी कृपा व शक्ति उनमें संचारित होकर उनके अनन्त जन्म की दुष्कृति को अल्प समय में ही नाश कर देती है।

श्री रामचन्द्र, श्री कृष्ण तथागत बुद्ध, आचार्य शंकर, महाप्रभु श्री चैतन्य इत्यादि आचार्यगण एक एक युग में आकर मुमुक्षु भक्त नरनारियों को इस आत्म-समर्पण योग की साधना का उपदेश कर गये हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने सब कुछ उपदेश के उपरान्त यही कहा—"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज" सब प्रकार से मेरे में आत्म समर्पण करो। बुद्ध देव ने "बुद्धं शरणं गच्छामि"—यह संकल्प मन्त्र सिखाया।

संघनेता आचार्य देव ने कहा—

"इस युग के लिये मैंने ही तपस्या की है। एक व्यक्ति जलाशय खोदता है और लाखों प्राणी उसमें जलपान कर तृप्त होते हैं। मेरे आश्रय में आने से, शरण में आने से, कायेन-मनसा-वाचा मेरे पर निर्भर करने से मेरी शक्ति मेरे आश्रितों में संचारित होगी।" आचार्य देव अनेक उपायों से संघ के त्यागी सन्तानों तथा आश्रित भक्तों को इस आत्म समर्पण योग की साधना की शिक्षा देते थे।

कोई किसी प्रकार दोष-त्रुटि करके संकुचित होने से या पश्चाताप करने से स्नेहप्रेम आदर के साथ उसको अङ्क में भर लेते थे। कोई उनसे विमुख होकर जब दूर चला जाना चाहता था, तब वे अतिशय स्नेह व व्याकुलता के साथ उसे अपनी ओर आकर्षित करते थे। कोई निंदा, तिरस्कार व समालोचना करने से उसपर उनका स्नेह और आशीर्वाद

सौगुना बढ़ जाता था। इस प्रकार भक्त, अभक्त, पापी पुण्यात्मा, मूर्ख, विद्वान, धनी-निर्धन, स्पृश्यास्पृश्य, शत्रु, मित्र सबको वे आकर्षण करते थे। सबके हृदय में उनका आसन अटल रहता था।

आचार्य देव सिखाते थे—"सद्गुरु के आदेश से गुरु में तद्गत तथा तल्लीन होकर जो कुछ काम किया जाता है—चाहे जपध्यान पूजा-पाठ हो या विष्टा साफ करना हो उसी से गुरु की शक्ति तथा आशीर्वाद प्राप्त किया जा सकता है।"

"सद्गुरु" पुस्तक में उनका उपदेश है—सद्गुरु के चरणाश्रित शिष्य के लिये कर्म-ज्ञान-भक्ति सभी कुछ आत्म समर्पण योग में केन्द्रीभूत होता है, यथा :—

(१) सद्गुरु के आश्रित जो शिष्य हैं उन्हें विचार पूर्वक फलाकांक्षा त्याग करके कर्म करने की आवश्यकता नहीं होती। सद् गुरु के निर्देश से उनके अभीप्सित कर्म करके उनका सन्तोष विधान करना ही शिष्य का कर्मयोग है।

(२) सद्गुरु की पूजार्चना, ध्यान—धारणा सेवा—सुश्रुषा इत्यादि के माध्यम से ही उनके भाव-प्रेम-अनुराग में तन्मय हो जाना ही शिष्य का भक्ति योग है।

(३) सद्गुरु के प्रति परम-निष्ठा के साथ से समग्र चित्त-वृत्ति को निरुद्ध व निश्चल करके उनके स्मरण-ध्यान तथा भाव में समाहित हो जाना ही शिष्य की राजयोग साधना है।

(४) सद्गुरु में तद्गत होकर-सद्गुरु के अतिरिक्त मेरी सत्ता नहीं है-ममत्व अस्तित्व-अहंज्ञान सभी कुछ सद्गुरु की विराट सत्ता में विलीन कर एक हो जाय-वे ही एकमात्र सत्य हैं अन्य सभी कुछ अनित्य और मिथ्या है इस प्रकार की भावना और ध्यान ही शिष्य की ज्ञानयोग साधना है।

(५) ऐकान्तिकी निष्ठा, अव्यभिचारिणी भक्ति, प्रबल अनुराग से सद्गुरु के महाभाव में तल्लीन हो जाना ही शिष्य की समाधि है।

जातीय जीवन में शक्तिसाधना का प्रवर्त्तन

१९२७ ई० के अन्तिम भाग में जब आचार्यदेव अत्यन्त ही अस्वस्थ थे उसी समय उनके अन्तर में जातीय जीवन में शक्ति साधना के प्रवर्त्तन की प्रेरणा जाग्रत हुई। इस संकल्प को वास्तव रूप देने के पूर्व उसके उपयुक्त परिस्थिति तथा जनता में अनुकूल मनोवृत्ति प्रस्तुत करने के लिये उन्होंने शक्ति-साधना के प्रतीक स्वरूप श्री श्रीदुर्गा पूजा करने का निश्चय किया। आचार्यदेव के जातिगठन की परिकल्पना का आदर्श श्री श्री दुर्गा प्रतिमा व श्री श्री दुर्गापूजा में परिलक्षित होता है। केवल यही नहीं प्रत्युत संघनेता आचार्यदेव ने संघ-शक्ति-गठन का जो संकल्प ग्रहण किया था—देवी की लीला की महिमा में ही उसका इंगित और उपाय प्रकाशित होता है। बहुत विचार विमर्श के पश्चात् काशीधाम में पूजा का स्थान निश्चित हुआ। १९२८ ई० में अक्टूबर मास में काशीधाम में संघ की ओर से प्रथम दुर्गा पूजा का अनुष्ठान हुआ।

श्री रामचन्द्र का दुर्गोत्सव

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां धर्मसंस्थापनार्थाय"—भक्त शरणागत साधुओं का त्राण, दुष्ट दुर्वृत्त अत्याचारी का विनाश और धर्म

संस्थापन के लिये श्री रामचन्द्र का अवतार हुआ था। त्रिलोक के अधिकारी लंकेश्वर रावण को अवलम्वन करके संसार की सब राक्षसी तथा आसुरी शक्ति एकत्र होकर समग्र विश्व में अत्याचार, अनाचार-कदाचार, व्यभिचार का विजय ध्वज फहरा रही थी। उसी राक्षसी व आसुरी-तामसिक व राजसिक सभ्यता व शक्ति के साथ श्री रामचन्द्र जी की दैवीशक्ति व सभ्यता का संघर्ष था। घमासान लड़ाई में श्री रामचन्द्र की वन्य पशुओं की सेना को अस्त-व्यस्त और अवसन्न होती हुई देखकर श्री रामचन्द्र ने अपनी आश्रित भक्त-सेना में महान संकल्प शक्ति का उद्‌बोधन और नवीन प्रेरणा का संचार करने के लिये असमय पर महामाया महाशक्ति का बोधन किया था। उसी शक्ति साधना के प्रभाव से रावण का सवंश नाश हुआ था। यह पूजा सर्वजन प्रसिद्ध है। अविराम, अतन्द्र रूप से परिश्रम करने पर आचार्यदेव अत्यन्त अवस्थ हो गये। परन्तु अपने जीर्ण स्वास्थ्य को सुधारने का संकल्प उनके अन्तर में जाग्रत ही नहीं हो रहा था। किसी भी प्रकार से शरीर की रक्षाके प्रति उनका कोई मनोयोग दृष्टिगोचर नहीं होता था। अन्त में सर्वनियन्ता की प्रेरणा से आचार्यदेव में "जातीय जीवन में शक्ति-संचार व शक्ति-साधना का पुनः प्रवर्त्तन" करने का शुभ संकल्प जाग्रत हुआ। फलतः वे शरीर धारण की आवश्यकता अनुभव करने लगे तथा शरीर भी द्रुतिगति से आरोग्यहोने लगा। आचार्यदेव का यह संकल्प जाति-गठन-क्षेत्र में दो धाराओं में प्रवाहित हुआ। (१) सद्‌गुरु के रूप में धर्मार्थी-जिज्ञासु तथा मुमुक्षु लाखों नर-नारिओं को उपदेश, आशीर्वाद, आश्रय तथा शक्ति साधना प्रदान करना। (२) जातीय जीवन में वीर्य का अनुशीलन तथा संघ-शक्ति साधना का पुनः प्रवर्त्तन।

हिन्दू-जाति-गठन-आयोजन

एक दिन संघ सन्यासियों के साथ वार्त्तालाप करते हुये आचार्यदेव ने कहा—"ऐसा कार्यक्रम प्रवर्त्तन करना होगा कि जिससे जाति व समाज के प्रत्येक नर-नारी हर समय संघ व संघनेता का स्मरण करते रहें। संघ व संघनेता ही सबके ध्यान की वस्तु बन जाँय। जाति का प्रत्येक व्यक्ति प्रातःकाल से सन्ध्या तक स्मरण करता रहे कि संघ व संघनेता ही उसके परम सहायक एवं आश्रय दाता हैं। उनके जीवन मरण के साथ संघ युक्त रहे - चाहे वे कहीं पर हों परन्तु सदा यही अनुभव करते रहें कि संघ का महान आध्यात्मिक तपोबल ही उनका एक मात्र सहायक है।"

प्रायः पन्द्रह वर्षों तक इसी प्रकार जाति व समाज सुधार के विषय में विभिन्न कार्यक्रम चलने लगे। १९१९ से १९३४ तक जनसेवा, तीर्थसंस्कार, धार्मिक व नैतिक आदर्श का प्रचार, गुरु-पूजा का प्रचार व प्रतिष्ठा इत्यादि अनेक प्रकार के कार्य प्रवर्तित हुये थे। उसके साथ ही उन्होंने नवीन वाणी, प्रेरणा तथा परिकल्पना को संयोजित कर धर्म के आधार पर जाति-गठन" आन्दोलन का श्री गणेश करने का संकल्प ग्रहण किया। आचार्य-देव ने इस आन्दोलन के प्रारम्भ में यह भी स्पष्ट कर दिया कि "राजनीति के साथ संघ का कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु

हम लोग काँग्रेस के उद्देश्य या आवश्यकता को अस्वीकार नहीं करते। हम लोग चिन्ता-वाक्य-व-कार्य के द्वारा कभी काँग्रेस से विरोध नहीं करेंगे। हिन्दूमहासभा की भी यथेष्ट आवश्यकता है। परन्तु धर्म ही हम लोगों का तथा संघ की कार्य धारा का आधार है। अतः राष्ट्रनीति से हम लोगों का कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा। सबके साथ यथा योग्य सहयोगिता ही हम लोगों के कार्यक्रम का आधार होना चाहिये। हम लोगों की कार्यधारा ऐसी सार्वजनीन तथा सार्वभौमिक होनी चाहिये कि वह समग्र जनसाधारण को, सब प्रतिष्ठान को सब नेतागण को महामिलन तथा महासमन्वय के क्षेत्र में ले आयेगी"

"हमारी कर्म परिकल्पना ऐसी है कि निकट भविष्य में देश के सब नेता व प्रतिष्ठान को उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। हमारा आन्दोलन जातिगठन के लिये अनुष्ठित सब कर्म धाराओं को सफलता के मार्ग पर अग्रसर कराने में सहायक होगा। किसी प्रतिष्ठान या कर्म पन्था के साथ विरोध नहीं होगा।"

एक दिन किसी एक सन्यासी के साथ इस विषय में चर्चा करते हुये आचार्यदेव ने कहा—"हम जो आन्दोलन उठाना चाहते हैं—हिन्दू समाज का संस्कार व संगठन करना ही उसका मुख्य उद्देश्य होगा। हम समग्र हिन्दू जाति को संघबद्ध तथा शक्तिशाली बनाना चाहते हैं।"

सन्यासी ने प्रश्न किया—"क्या यह कार्य करना संघ के लिये उचित होगा ? देशवासी जानते हैं कि भारत सेवाश्रम संघ जाति वर्ण धर्म के किसी भी भेद भाव के बिना भारतीय जनता मात्र की सेवा करता है। इस हिन्दू संगठन कार्य से जनता में भ्रान्त धारणा का प्रचार हो सकता है।"

दूसरे सन्यासी ने कहा—"नहीं यह क्यों होगा ? संघ तो जनसेवा के कार्य को छोड़कर केवल हिन्दू जाति तथा हिन्दू समाज की ही सेवा में अपने को नहीं लगा रहा है। हम लोग हिन्दू सन्यासी हैं—हिन्दू धर्म का प्रचार-हिन्दू समाज संस्कार व संगठन हम लोगों का कर्त्तव्य व दायित्व है—इसे कौन नहीं समझता ?

आचार्य देव—"जिसका जो नाम है उसको उसी नाम से पुकारने से वह उत्तर देता है। ईसाईयों को उस नाम से पुकारने के लोग हैं इसलिये वह जाग्रत हैं। मुसलमान को उसका नाम लेकर बुलाने के लोग हैं इसलिये वह भी अपने अस्तित्व को समझकर उसका उत्तर दे रहे हैं। वे जाग्रत और संघबद्ध हैं। परन्तु आज हिन्दू को हिन्दू नाम से बुलाने वाला कोई नहीं है। विगत सौ वर्षों से हिन्दू जाति को किसी ने 'ब्राह्म' तो किसी ने 'आर्य' इत्यादि नामों से पुकारा है। और किसी ने उसका नाम 'अमुसलमान' भी रखा है। अतः विशाल भारतीय हिन्दू जाति जड़ व शिथिल होकर आत्म विस्मृत बनकर अचेतन अवस्था में पड़ी है। आज हिन्दू को हिन्दू नाम से पुकारने का समय आया है। मैं हिन्दू को हिन्दू नाम से पुकारना चाहता हूँ। इस 'हिन्दुत्वबोध' के जाग्रत होने के साथ साथ हिन्दू का सुप्त तेजोवीर्य, शक्ति-सार्मथ्य पुनः जाग्रत हो उठेगा।"

१ म—सन्यासी—"कांग्रेस हिन्दू-मुसलमान खृष्टान समग्र भारतीय जाति की

सम्मिलित जातीयता चाहती है। हम लोग हिन्दू जाति गठन आरम्भ करने से काँग्रेस से विरोध नहीं होगा ?"

आचार्यदेव—"मेरा हिन्दू जातिगठन आन्दोलन काँग्रेस के भारतीय महाजातिगठन आन्दोलन का विरोधी नहीं है। काँग्रेस राष्ट्र नीति के आधार पर जातिगठन चाहती है और हम धर्म के आधार पर जातिगठन चाहते हैं। जाति के जीवन के अनेक पक्ष हैं—धर्म-समाज राष्ट्र इत्यादि। केवल राष्ट्र-क्षेत्र में ही जातिगठन की चेष्टा करने से नहीं होगा; धर्म-राष्ट्र-समाज सभी क्षेत्रों में जातिगठन की चेष्टा करना आवश्यक है। यह एक बात हुई। दूसरी बात है—मुसलमान संघबद्ध और सुगठित हैं; खृष्ठान भी संघबद्ध व सुरक्षित हैं; उनको संगठित करने के लिये किसी को व्यस्त होने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु एकमात्र भारतीय जाति के तीन-चौथाई हिन्दू-समाज परस्पर के मनोमालिन्य व संघर्ष से ही छिन्न-भिन्न दुर्बल व अरक्षित हैं। इस विराट भारतीय हिन्दू जनमण्डली को सम्मिलित तथा संघबद्ध नहीं करने से क्या एक जातीय जीवन का जागरण व पुर्नगठन सम्भव हो सकता है ? जिसको स्वल्प मात्र विचार शक्ति है व दूर दृष्टि है वह समझ सकता है कि भारतीय जातिगठन के मार्ग में हिन्दू - मुसलमान मिलन ही नहीं प्रत्युत हिन्दू - जातिगठन ही यथार्थ समस्या है। हम इसी छिन्न-भिन्न हिन्दू जनता को सम्मिलित तथा संघ बद्ध करने की चेष्टा द्वारा काँग्रेस के महाजातिगठन के प्रयास का शिलारोपण करेंगे। हमारी कार्य-पद्धति पर विचार करने से सभी कोई समझ जायेगा "हिन्दू - हिन्दू में जितनी शीघ्रता से मिलन होगा—हिन्दू - मुसलमान में उतनी ही जल्दी मिलन सम्भव होगा।"

२ रा—सन्यासी—"मुसलमान व ईसाईयों के विषय में चिन्ता करना सर्वथा निरर्थक है। २८ करोड़ हिन्दू सम्मिलित तथा संघबद्ध होने से खृष्ठान व मुसलमान को छोड़कर भी क्या वे स्वराज-स्वाधीनता नहीं प्राप्त कर सकते ? परन्तु जब २८ करोड़ हिन्दू में ही आपस में एकता सहयोगिता नहीं है तब मुसलमान के साथ एकता स्थापित करने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है ?"

आचार्यदेव—"हिन्दू समाज में असंख्य भेद वैषम्य व विचित्रता है। केवल खण्डन व क्रान्ति द्वारा अखण्ड समाजगठन की चेष्टा करना पागलपन है। परन्तु समाज में जो विशृंखलता है—उस अवस्था में कुछ कुसंस्कारों को दूर करने के लिये यत्र, तत्र परिवर्तन करने की अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसा नहीं करने से सुधार करना दुष्कर होगा। तथा अत्यन्त आवश्यक संस्कार नहीं करने से संगठन का कार्य भी अग्रसर नहीं हो सकेगा। तथापि इस विषय पर ध्यान रखना पड़ेगा कि अपनी कोई भी कार्य पद्धति द्वारा समाज में विप्लव की सृष्टि न होने पावे। समाज को उसके मार्ग पर चलने देना होगा केवल उसको प्रगति के मार्ग पर जो बाधायें हैं उनको दूर करना ही हम लोगों का कार्य है। संस्कार के नाम से समाज पर जो आघात पहुँचा कर उसे खण्ड, विखण्ड किया जाता है—इस प्रकार के सुधार का मार्ग परिवर्तन करना पड़ेगा।"

२ रा—सन्यासी—"समाज की जनता को विवेक विचार द्वारा जाग्रत तथा, ज्ञान-दान न कर केवल बलपूर्वक मन्दिर में प्रवेश या अस्पृश्यता क दूर करना इत्यादि हठ करने से समाज का अवशिष्ट जो कंकाल है वह भी ध्वंसप्राप्त हो जायेगा।"

आचार्यदेव—"विगत सौ वर्षों से हिन्दू समाज को (स्वामी विवेकानन्द के अतिरिक्ति) किसी ने आशा उत्साह की वाणी नहीं सुनाई। भविष्य का प्रोज्ज्वल चित्र नहीं दिखाया, आश्वासन की मधुर वाणी से अनुप्राणित नहीं किया। परन्तु हिन्दू समाज में जन्म लेकर, इसी समाज के अन्न से प्रतिपालित तथा परिवर्द्धित होकर इस समाज के छाती पर बैठकर निर्मम भाव से हिन्दू धर्म तथा समाज की निन्दा और कठोर वाणी वर्षण करते हुये सबों ने उसका अंग-छेद ही किया है। परिणाम यही हुआ कि समाज दुर्बल होते-होते आज मृत्यु के द्वार तक पहुँच चुका है।"

२ रा—सन्यासी—"हम लोगों को अब संगठन के मार्ग पर चलना पड़ेगा।"

आचार्यदेव—"मिलन-मित्रता तथा सहयोगिता ही हमारी जातिगठन पद्धति की विशेषता होगी। धर्म व समाज के क्षेत्र में प्रयोजनीय संस्कार अवश्य ही करना चाहिये। हमारी कर्म पद्धति ऐसी होगी जिससे संस्कार व संगठन का कार्य एक साथ ही अग्रसर होगा।"

२ रा—सन्यासी—"संघ के परिकल्पित इस नवीन आन्दोलन का नाम क्या होगा ?"

आचार्यदेव—"उस पर ही विचार कर रहा हूँ। लोगों में भ्रान्त धारणा न हो साथ ही साथ संघ का उद्देश्य ठीक ठीक समझ सकें ऐसा नाम होना चाहिये। संस्कार शब्द से लोग समाज विप्लव का भाव समझ लेते हैं।"

२ रा—सन्यासी—"आर्य समाज" तथा "हिन्दु महासभा" इत्यादि के कार्य के परिणाम स्वरूप "संगठन" शब्द से शुद्धि, विधवा विवाह, अछूतोद्धार,

मन्दिर-प्रवेश इत्यादि समझा जाता है। परन्तु इसके स्थान पर एक और शब्द है "समन्वय"।

आचार्यदेव—"समन्वय शब्द का क्या अर्थ है?"

२ रा—सन्यासी—"यथा योग्य स्थान में रहकर परस्पर मिलन तथा सहयोगिता के सम्बन्ध से युक्त रहना।"

आचार्यदेव—"इसका अर्थ लोग ऐसा तो नहीं समझेंगे कि सबको एकत्र कर एक विचित्र वस्तु की प्रतिष्ठा की जायेगी?"

२ रा—सन्यासी—"कर्मपद्धति ही यर्थाथ वस्तु है उसी से सबको आन्दोलन के स्वरूप का परिचय प्राप्त हो जायेगा। किसी प्रकार की भ्रान्त धारणा की सम्भावना होगी तो भी अपने आप उसका खुलासा हो जायेगा।"

आचार्यदेव—" तब तो संघ के सगठन आन्दोलन का "हिन्दू समाज समन्वय" यह नाम दिया जायेगा।"

१ म—सन्यासी—"हम लोगों का संघ वास्तव में एक धार्मिक संस्था है। इसलिये क्या "धर्म" शब्द रहने से अच्छा नहीं होता? केवल समाज शब्द रहने से संघ के विषय में कोई आर्य समाज जैसी धारणा तो नहीं कर बैठेगा।"

आचार्यदेव—"जब तक धर्म अनुष्ठान में प्रतिफलित नहीं होता तब तक वह केवल नाम मात्र है। समाज में ही धर्म का वास्तव प्रकाश है। विगत एक सहस्रों वर्षों से धर्म को क्रमशः सामाजिक जीवन से पृथक कर दिया गया है, फलतः जाति की यह दुर्दशा है। धर्म के आधार पर ही समाज-जीवन का निर्माण करना पड़ेगा।"

२ रा' सन्यासी—"संघ के इस नवीन आन्दोलन की कर्मपद्धति क्या होगी ?"

आचार्यदेव—"हम गाँवों तथा शहरों में सर्व श्रेणी के हिन्दुओं को परस्पर सम्मिलित तथा संघबद्ध करना चाहते हैं। मिलन ही हमारे संगठन तथा संस्कार कार्य की नींव है। सर्व प्रथम मिलन चाहिये ; मिलन के लिये जो कुछ प्रयोजन, जो कुछ सहायक है—ऐसे भाव व अनुष्ठान हम लोग ग्रहण करेंगे। मिलन व सहयोगिता में बाधा पड़े ऐसे किसी भी मार्ग को हम लोग नहीं अपनायेंगे ! सबसे पहले चाहिये सब श्रेणियों का मिलन क्षेत्र तथा सार्वजनीन मिलन अनुष्ठान।

मेला, बाजार, सभा-समिति क्लबघर, खेल के मैदान में भी लोग एकत्र होते हैं। परन्तु उस प्रकार के मिलन से जातीय एकता के मार्ग में किसी प्रकार की सहायता नहीं होती धार्मिक तथा सामाजिक आदर्श की भित्ति पर-मिलन चाहिये इसलिये हिन्दू के मिलन क्षेत्र का नाम "हिन्दू मिलन मंदिर" रखना पड़ेगा। मंदिर जैसे धर्म साधना का स्थान है। वहाँ प्रवेश करते ही शान्त, गम्भीर पवित्र, भाव से हृदय भरपूर हो जाता है। वैसे ही हिन्दू-मिलन मन्दिर में सर्व श्रेणी के हिन्दू उच्चभाव लेकर आयेंगे।'

२ रा—सन्यासी—"मन्दिर तो अनेक हैं परन्तु कितने हिन्दू आजकल मन्दिर में जाते हैं ? मन्दिर में सर्वश्रेणी के हिन्दू को प्रवेशाधिकार भी नहीं है। मिलन मन्दिर के नाम से लोगों में यदि ऐसी ही कोई भावना आ जाय तो ?"

आचार्यदेव—"मिलन मन्दिर की विशेषता लोगों को भली भाँति समझाना पड़ेगा। मुसलमान के लिये जैसे मस्जिद है हिन्दू के लिये

वैसा ही मिलन-मन्दिर होगा । लोगों को संक्षेप में यही समझाना होगा कि मुसलमान जिस तरह नियमित रूप से सप्ताह में एकवार या किसी त्योहार पर मस्जिद में एकत्र होकर धर्मानुष्ठान तथा सामाजिक विषय में विचार विमर्श करते हैं, सब श्रेणी के हिन्दू भी गावों तथा शहरों के केन्द्र में सम्मिलित होकर धर्मानुष्ठान के साथ साथ समाज व जाति की दुख दुर्दशा व आत्म रक्षा के विषय में आलोचना करके उसके समाधान का उपाय निर्धारित करेंगे ।

२ रा—सन्यासी—"इस आन्दोलन को उचितरूप से प्रवर्त्तन करना हो तो इसके आदर्श उद्देश्य लिखकर पत्र छपवाना चाहिये ।"

आचार्यदेव—"कल ही सब लिखकर दो तीन दिन में सब छपवा लो। एक सप्ताह के अन्दर मैं प्रचार के लिये जाऊँगा ।

हिन्दू समाज समन्वय आन्दोलन

आचार्य का प्रचार अभियान

आचार्यदेव के जीवन की एक विशेषता यह थी कि किसी प्रकार का संकल्प जाग्रत होने के साथ ही उसके साधन में कटिबद्ध होजाना तथा उसके समाप्त न होने तक क्षणमात्र भी विश्राम न लेना। 'हिन्दू-समाज समन्वय' आन्दोलन का संकल्प उनमें जाग्रत होने के साथ ही एक भी दिन उनसे शान्त न रहा गया। भागवती करुणा की जो तरंग उनके अन्तःकरण में उद्वेलित हुई वह उन्हें लोक कल्याण के मार्ग पर व्यस्त पदों से ले चली—देश के पतित-दलित, तथा अस्पृश्यों के द्वार पर! सामान्य नेता तथा भगवत प्रेरित आचार्य में यही अन्तर है।

साधारण नेता, धर्म राष्ट्र-समाज किसी भी क्षेत्र में किसी प्रकार आन्दोलन उठाना चाहते हैं तो पहले शहरों में शिक्षित बुद्धिमान तथा विचारशील जनगण में इसकी प्रतिष्ठा करने की चेष्टा करते हैं। देखा जाता है कि विगत शत वर्षों से जितने आन्दोलन उठे, सब इसी नीति पर चले आये हैं। परन्तु आचार्य में भागवती करुणा का जो प्रबल प्लावन आया—उससे वे जनगण को अभिसिंचित करने के लिये व्याकुल हो उठे। सहस्रों वर्षों से जो लोग पतित-

दलित-घृणित-उपेक्षित थे जिन लोगों को लोग पशु की भाँति समझते थे -जिन लोगों के प्रति सहानुभूति दिखलाने की किसी को चिन्तामात्र भी नहीं थी उन लोगों को अंक में उठाने के लिये-आश्वासन की वाणी सुनाकर आशीर्वाद देने के लिये आचार्यदेव अत्यन्त व्याकुल हो उठे। उन्हें शरीर की सुधि भी न रही उनकी वह स्थिति विना देखे किसी के अनुभव में नहीं आ सकती।

दिसम्बर मास था। वे सुन्दरवन में गये। इधर विशेषतः पौन्ड्र क्षत्रिय नमः शूद्र, मोची, माहिष्य कापाली जैसे अस्पृश्य वर्गों की ही बस्ती है। पद-पद पर वन्य पशुओं से प्राणों का भय है। शिक्षित वर्ग तो इधर जाने का नाम भी नहीं लेते। परन्तु जीवकल्याण में विपलितचित्त आचार्यदेव नाव में यात्रा करने के मार्ग में जो कोई मिल जाता है उन्हीं से संगठन की बात करने लगे तथा पत्रिकायें बाँटने लगते थे। संघ संतानों से भी सर्वदा उसी के विषय में वार्त्तालाप करके सब में प्रेरणा देने लगे। जो कोई मिलता उसी से स्वयं कहने लग जाते—"अमुक स्थान पर एक विराट सभा होगी, एक महापुरुष वहाँ आने वाले हैं। हिन्दू-धर्म और समाज की उन्नति के विषय में चर्चा होगी, सबको बुलाकर ले आना।" आचार्यदेव में ऐसा बालकभाव देखकर सन्यासी-गण हँसने लगे और कहने लगे-'हम लोग ही कह रहे हैं, आप क्यों कष्ट करते हैं ? यह शोभा नहीं देता।" तब उन्होंने कहा—"तुम लोग कहाँ कह रहे हो? एक भी मनुष्य व्यर्थ में न जाय। गाँव के लोग बड़े ही सीधे हैं। वे शहर के शिक्षित लोगों की भाँति नहीं हैं। उन लोगों का—धर्म, भगवान् महापुरुष में विश्वास भक्ति व श्रद्धा है।" उस समय आचार्यदेव के शरीर और मन में पतितोद्धार के संकल्प की ज्योति उद्भासित हो रही थी। मुख-कमल करुणा व स्नेह की आभा से आलोकित था। कण्ठ में व्याकुलता व करुणा की वाणी थी।

सुन्दरवन में जागरण का तरंग उठाकर वे फरीदपुर व वरिशाल जिला में गये। गाँवों में जाकर तथा कथित अस्पृश्यों के घर में आहार करने लगे। कभी कभी सहसा किसी के घर पर पहुँचने से वे लोग विस्मित हो जाते थे। तथा अपनी सरल सीधी भाषा में भक्ति प्रकाश करते हुये उनकी अमृतमयी-मृत संजीवनी वाणी को परम आग्रह के साथ सुनते। आचार्यदेव भी गाँव वालों के सीधे सादे स्वागत व आयोजन की अत्यन्त प्रशसा करते तथा उसके लिये अत्यन्त सन्तोष प्रगट करते थे। इस समय आचार्यदेव दिन रात्रि इन लोगों की प्रशंसा में ही मुखरित रहते थे। चाँदसी नाम के एक गाँव में जाकर एक दिन एकायक एक नमःशूद्र के घर पर जा पहुँचे। तथा कहने लगे "जो कुछ हो थोड़ा खाने को दो-बड़ी भूख लगी है।"

गृहवासी तो विस्मय चकित हो गये। तदनन्तर विभिन्न जिला के गाँवों में प्रचारकार्य चलने लगा, इधर जाने आने का किसी प्रकार का साधन नहीं है। किसी किसी स्थान पर तो पानीय जल भी दुर्लभ था। प्रत्येक स्थान में जनसभा, पूजा कीर्त्तन, शोभायात्रा, वैदिक यज्ञ, महोत्सव, प्रसाद वितरण होता था। अनेक स्थानों में–"मिलन मंदिर" की भी प्रतिष्ठा हुई। इस समय तो वे दिवारात्रि कर्म-व्यस्त रहते थे। किसी किसी रात्रि में दो-दो सभाओं में भी उपस्थित रहते थे। रात्रि के दो बजे तक सभा में बैठते थे। समाचार मिलने के साथ ही सहस्रों नरनारी उपस्थित हो जाते थे। साथ चलने वाले अनेक प्रचारक इस कठोर परिश्रम से अस्वस्थ हो, गये परन्तु उन्हें किञ्चिन्मात्र भी ध्यान नहीं था।

पहले भी उल्लेख किया गया है कि जब समाज में नैतिक आदर्श-प्रचार का आन्दोलन, तथा गार्हस्थ्य जीवन में शक्तिसाधना की प्रतिष्ठा का संकल्प ग्रहण

कर आचार्यदेव कर्म क्षेत्र में अवतीर्ण हुये थे तब भी आहारनिद्रा इत्यादि शारीरिक धर्म के विषय में पूर्ण उदासीन रहते थे। वंगाल के कई एक जिलों में इस आन्दोलन को उठाने के बाद जनसाधारण में विशेष प्रचार के लिये बाजितपुर आश्रम में "वंगीय हिन्दू-महासम्मेलन" का आयोजन किया गया। उसके पश्चात प्रत्येक वर्ष वहाँ पर सम्मेलन का अधिवेशन होने लगा।

बिहार व उत्तर प्रदेश में प्रचार

वंगाल के शहरों और गावों में इसका विशेष प्रचार करके आचार्यदेव बिहार व उत्तर प्रदेश में प्रचार करने के लिये अग्रसर हुये। गया, पटना, काशीधाम, गाजीपुर, देवघर, मधुपुर, छपरा, भागलपुर, डरी ओन-सोन, पूर्णिया इत्यादि स्थानों में प्रचार कार्य हुआ। सभी स्थानों पर हिन्दू नेता गण तथा हिन्दू जनसाधारण आग्रह पूर्वक उनका स्वागत करते थे और सभा में हिन्दू-समाज-समन्वय के आदर्श, उद्देश्य और कार्य पद्धति के विषय में सुनकर नवीन आशा और आश्वासन से प्रोत्साहित होते थे।

प्रयाग धाम में कुम्भ मेला के अवसर पर प्रतिदिन विभिन्न प्रान्तों से समागत सहस्रो नरनारी हिन्दू जागृति की चर्चा सुनकर अपने मन में नवीन चिन्ता धारा लेकर जाते थे। प्रतिदिन सभा में हिन्दू जातिगठन के विषय में विचार विमर्श व व्याख्यानादि होते थे। कुम्भ मेला में उपस्थित लाखों साधु-सन्यासी, धर्मोपदेशक के हृदय-मन में हिन्दू-समाज-समन्वय-आन्दोलन का नवीन भाव तथा विचार-प्रवेश कराकर उन लोगो को हिन्दू जातिगठन कार्य में उद्योगी करने के लिये विभिन्न भाषा में "हिन्दू धर्म-संस्थापन",

"हिन्दू-मिलन मन्दिर" प्रभृति प्रचारपत्र छपवा कर सहस्रों की संख्या में वितरण करने लगे। प्रत्येक अखाड़ा तथा आश्रम में जाकर संघ के सन्यासीगण विभिन्न सम्प्रदाय के साधू-सन्यासी को हिन्दू-संगठन की आवश्यकता तथा संघ के "मिलन-मन्दिर-कार्य पद्धति" की उपयोगिता समझाने लगे।

इस प्रकार आचार्यदेव जहाँ पर जाते थे वहाँ पर हिन्दू-जातिगठन के भाव तथा चिन्ताधारा का प्रचारकर हिन्दू-जातिगठन का उचित वातावरण प्रस्तुत करते थे। जिसके प्रभाव से उस समय चारो तरफ उसी की चर्चा चलती थी। हिन्दू संगठन कार्य को कार्यान्वित करने के लिये इस प्रकार से हिन्दू जातिगठन मूलक भाव व चिन्ता का प्रचार कर उपयुक्त क्षेत्र प्रस्तुत किया जाने लगा।

हिन्दू-सम्मेलन का प्रर्वत्तन

सहस्रों वर्षों से प्रसुप्त हिन्दू जाति में जागृति तथा नवीन जीवन का स्पन्दन लाने के लिये आचार्यदेव जैसे एक ओर छोटी बड़ी प्रचारक-मण्डली लेकर गावों तथा शहरों में भ्रमण कर हिन्दू-जनसभा, वक्तृता, एवं यज्ञ, महोत्सव के द्वारा विभिन्न श्रेणी के हिन्दू को एकत्र कर उनको जातिगठन की वाणी प्रेरणा व आशीर्वाद दे रहे थे। उसी प्रकार दूसरी दिशा में नेतागण, अग्रणण्य नागरिकों तथा विचारशील शिक्षित वर्ग के लोगों के मस्तिष्क में भी हिन्दू-जातिगठन की चिन्ता एवं हृदय में हिन्दुत्व की चेतना को उद्‌बुद्ध करने के लिये विराट हिन्दू सम्मेलन का प्रर्वत्तन करने लगे।

संघ सन्तानों के हृदय में प्रेरणा-संचार

धर्म के आधार पर हिन्दू-जातिगठन आन्दोलन की सुव्यवस्थित कर्म पद्धति के पवर्त्तन के लिये सघ नेता आचार्यदेव एक ओर जैसे अनुकूल भाव के वातावरण तथा क्षेत्र प्रस्तुत कर रहे थे। दूसरी ओर वैसे ही अपने जातिगठन आन्दोलन के भावी कर्णधार स्वरूप संघ के प्रचारक सन्यासी व ब्रह्मचारीगण के हृदय में अपना भाव, आदर्श तथा कर्म प्रेरणा को शक्तिपूत तथा तेजोमयी वाणी द्वारा मुद्रित कर रहे थे।

"देशवासी जानते हैं—संघ ने जब जिस काम का बीड़ा उठाया उस कार्य को सफल किये विना नहीं छोड़ा। संघ ने जब हिन्दू जातिगठन के कार्य में हाथ लगाया है तब वह अवश्य ही सफल होगा। हम लोगों में ऐसी (Spirit) तेजस्विता रहेगी कि—हम लोग ही सबके अग्रणी हैं। हम लोग ही हिन्दू के धर्म-मान-स्वार्थ तथा प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये सदा उद्यत हैं; किसी प्रकार के आक्रमण होने से सर्व प्रथम उसका आघात हम लोगों पर आयेगा। अतः हम लोगों को उससे लोहा लेने के लिये प्रस्तुत रहना चाहिये। हम लोग कभी किसी विपत्ति को देखकर पीठ नहीं दिखाते। लाखों बाधायें व विपत्तियाँ आने पर भी हम लोग संकल्प से नहीं विचलित होंगे। अब प्रश्न यही है—कि इतने बड़े कार्यसाधन के लिये इतना अर्थ कहाँ से आयेगा। इसके लिये भी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है, आज नहीं तो कुछ दिन पश्चात लोग हम लोगों को अर्थ देंगे ही। हम लोग यदि जाति के

लिये प्राण देने को प्रस्तुत हैं तो आर्थिक सहायता हम लोगों को अवश्य प्राप्त होगी। स्त्री के आभूषण बेचकर भी लोग हम लोगों को रुपया-पैसा देंगे—ऐसा दिन भी आ रहा है।"

हिन्दुओं के अन्दर दुष्ट दुर्वृत्तों के अत्याचार के कारण एक आंतक छा गया है यह देखकर आचार्यदेव ने कहा था।

"हिन्दुओं के हृदय में जो आंतक छाया है वह सम्पूर्णतया निराधार है। कौन हिन्दुओं पर अत्याचार कर सकता है? हिन्दू ही सदा से युद्ध भूमि में सामने खड़े होकर प्राणो की बलि देते आये हैं परन्तु इतने अत्याचार उत्पीड़न के होते हुये भी हिन्दू आज यदि प्रतिकार के लिये प्रस्तुत नहीं दिखाई पड़ते तो इसका कारण यही है कि—हिन्दू आज हैं कहाँ? हिन्दू आज हिन्दू नहीं हैं। चारों ओर सब हिन्दू नाम से परिचय देने वाले अविश्वासी, नास्तिक म्लेच्छ हैं।

मुसलमान को देखो अल्लाह पर उनका दृढ़ विश्वास है, कुरान उनका प्राण, मस्जिद उनकी जान तथा पैगम्बर उनके सब कुछ हैं। विना नमाज के एक दिन भी नहीं चलता परन्तु तथा कथित हिन्दू क्या कर रहे हैं? देव देवी में विश्वास नहीं है, सन्ध्या पूजा का नाम तक नहीं है। शास्त्र, सदाचार नहीं है। साधु महापुरुष में श्रद्धा नहीं है। धर्म कर्म में विश्वास नहीं है —केवल हिन्दू नाम से परिचय देते हैं--और कुछ भी नहीं है। क्यों आज हिन्दू दुर्बल हैं? धर्म को छोड़कर, हिन्दुत्व को खोकर, हिन्दू की आज यह

श्री श्री प्रणवमठ, आचार्यदेव की प्रचार-नौका

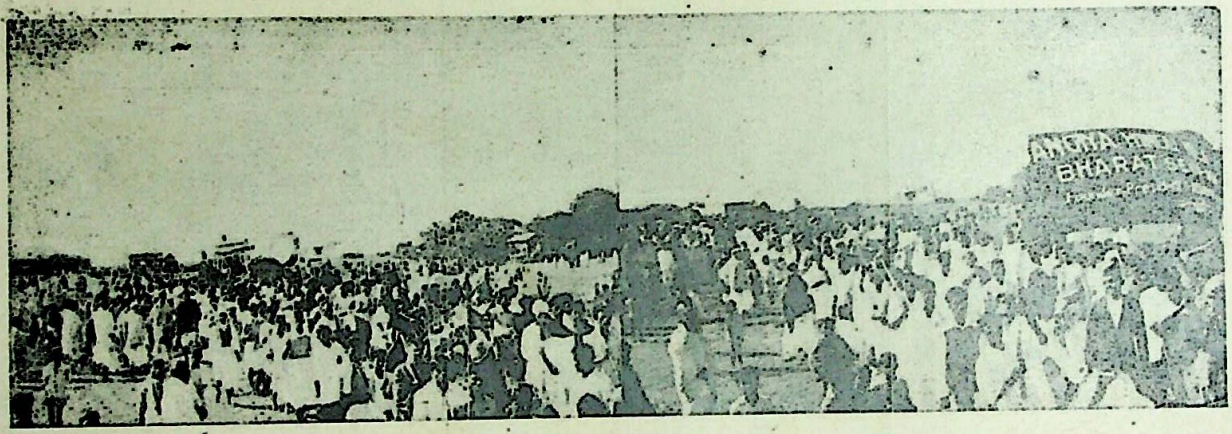

हिन्दू मिलन मन्दिर का साप्ताहिक अधिवेशन

दुर्दशा और अधः पतन है। जो कहते हैं–धर्म ने हिन्दू को दुर्बल बनाया है वे सब आत्मप्रवञ्चक, आत्मप्रतारक, आत्मद्रोही तथा आत्मघाती हैं।" इस प्रकार कहते कहते आचार्यदेव उत्तेजित हो उठे एवं वज्र गम्भीर स्वर में कहने लगे–

"संकल्प में जो दृढ़ है प्रतिज्ञा में जो अविचल है सब प्रकार की सिद्धि उसके करतलगत है–इस महा शक्ति की वाणी को हम प्रत्येक हिन्दू के कान में डालेंगे, सब में महाशक्ति का संचार करेंगे। हम जिस धर्म का प्रचार करेंगे वह जाग्रत जीवन्त होगा। दुष्ट-दुर्वृत्त हिन्दू का क्या कर सकते हैं ? हम दिखा देंगे–हिन्दूधर्म-शक्ति की साधना है। हिन्दू की साधना वीर्य की साधना है, हिन्दू में ऐसी शक्ति भरदेंगे कि दुनियाँ की कोई भी शक्ति उसका सामना नहीं कर सकेगी। यह भारत वर्ष है, हिन्दुस्तान है-यहाँ पर कोई कुछ नहीं कर सकता। सब ठीक हो जायगा कोई भय नहीं है। परन्तु सब काम समय पर होता है। शिशुपाल का निधन हुआ कब ? कौरवों का विनाश हुआ कब ? जब पाप घड़ा भर गया तब और पाँच सात वर्ष-यह शरीर रहेगा तो भारत के हिन्दुओं में एक महान परिवर्तन ला देंगे।

"मैं क्या करना चाहता हूँ यह कोई अभी नहीं जानता है। लोग इतना ही समझते होंगे कि भारत सेवाश्रम संघ गावों में संगठन कर रहा है। परन्तु यह तो केवल पृष्ठ भूमि

Back ground प्रस्तुत हो रही है। देश में यदि कोई विचार-शील मस्तिष्क हो (Brain) तो वह समझ सकेगा कि मैं किस मार्ग पर चल रहा हूँ। मेरा ध्येय क्या है वह मैंने संघ के प्रतिष्ठा के दिन ही कह दिया था। यह युग महा जागरण का युग है, यह युग महामिलन का युग है, यह युग महा समन्वय का युग है– यह युग महामुक्ति का युग है। भारतवर्ष तथा हिन्दू-जाति पुनः जाग्रत होगी पुनः शक्ति शाली होगी– एक मात्र मेरो इच्छा शक्ति से। मेरी इच्छा शक्ति से हिन्दू जाति की समस्त दुर्बलतायें विदूरित होंगी।"

देश के हिन्दुओं पर नित्य प्रति दुष्ट-दुर्वृत्तगण पाशविक अत्याचार कर रहे थे। परन्तु हिन्दू जनसाधारण की सम्पूर्ण निश्चेष्टता को देख कर कभी कभी संघ संतानगण धैर्य खोकर कह उठते थे– "हिन्दूजाति को हम लोग आश्वासन दे रहे हैं कि विपत्ति में आपत्ति में हम लोग तुम्हारे साथ हैं। तुम लोग अत्याचार अनाचार का सामना करो अब हम लोग यदि अग्रसर नहीं होंगे तो जनसाधारण हम लोगों पर कैसे विश्वास कर सकेगी ?"

संघ सन्तानों में इस प्रकार अविवेक देखकर आचार्यदेव कहने लगे–"अन्याय के प्रतिवाद तथा प्रतिकार के लिये ही वीर की शक्ति है।

कुरुक्षेत्र संग्राम में दुशासन का रक्त पीकर, दुर्योधन की जांघ तोड़कर भीम ने द्रोपदी के अपमान का प्रतिशोध लिया।

परन्तु उसके पूर्व भरी सभा में जब द्रोपदी का अपमान हुआ तब पाण्डव केवल मूक होकर देख रहे थे । भीम एक दो वार गरज उठे थे, परन्तु आखिर तक अन्य किसी ने कुछ नहीं कहा था । क्योंकि उस समय भी अन्याय-अत्याचार के प्रतिकार का योग्य समय नहीं आया था । आयोजन व शक्ति संग्रह पूर्ण नहीं हुआ था । भगवान श्रीकृष्ण का इंगित भी उन लोगों को प्राप्त नहीं हुआ था । परन्तु जब समय पूर्ण हुआ, शक्ति संग्रह व आयोजन पूरा होगया तब कुरुक्षेत्र के रणांगण में कुरुवंश को समूल विध्वंस करके प्रतिशोध लिया गया था ।

संघ-संतान समझने लगे-हठ से कार्य नहीं होगा प्रत्युत शनैः शनैः हिन्दू-जन साधारण को सम्मिलित तथा संघबद्ध करके महाशक्ति को संगठित व जाग्रत करना होगा । संगठन के लिये समग्र शक्ति को नियोग करना पड़ेगा ।

संघ की हिन्दू-संगठन पद्धति साम्प्रदायिक द्वेष के मार्ग पर न जाय इस लिये आचार्यदेव संघ-संतानों को बारम्बार सचेत करते थे ।

"मैं साम्प्रदायिकता नहीं चाहता प्रत्युत जो लोग साम्प्रदायिक विद्वेष को जाग्रत करते हैं उन लोगों को दमन करना चाहता हूँ । मुसलमान सम्प्रदाय से हमारा विरोध नहीं है, तथा मैं उन लोगों पर दोषारोपण भी नहीं करना चाहता । हम चाहते हैं–वे भी शांति-सुख व आनन्द से रहें । हम मुसलमान के धर्मशास्त्र या पैगम्बर की निन्दा नहीं करते । मुसलमान के नाम लेने की भी आवश्यकता नहीं है । बल्कि

मुसलमानों में जो भ्रातृत्व, स्वजाति तथा स्वधर्मानुराग व संघशक्ति हैं-हिन्दू में उन्हीं गुणों का प्रचार व प्रतिष्ठा करनी पड़ेगी। हिन्दू की आंखों में उँगली डालकर मुसलमान के यह सब सद्‌गुण उन्हें सिखाना पड़ेगा। हिन्दू को अच्छी तरह से समझाना होगा कि निन्दा करने या गाली देने से शक्ति की वृद्धि नहीं होती अपितु शक्ति का ह्रास होता है। सूर्योदय होने से अंधेरा अपने आप चला जाता है। उसी प्रकार जब हिन्दूजाति में संघशक्ति जाग्रत होगी, एक हिन्दू के लिये जब सहस्रों हिन्दू प्राण देने के लिये प्रस्तुत रहेंगे-तब दुष्ट, दुर्वृत्त अपने से ही संयत तथा भयभीत हो जायेंगे। अत्याचारी की निन्दा समालोचना करने से क्या हिन्दू की यह संघशक्ति या भ्रातृत्व भावना जाग्रत होगी ?"

देखो-मिलन व संगठन की चेष्टा न कर निंदा और दोषारोपण के स्वभाव ने ही हिन्दू को दुर्बल और छिन्न-भिन्न बनाया है। एक बालक भी समझता है कि कृष्ण, काली, शिव में कोई भेद नहीं है, वे सभी एक ही भगवत् शक्ति के विभिन्न प्रकाश हैं। परन्तु किसी किसी मठ के सन्यासीगण काली की निन्दा करते हैं, शिव की टीका करते हैं, कृष्ण सत्य हैं और सब झूँठे हैं-यही प्रचार करते हैं। वे लोग जान बूझ कर ऐसी अज्ञानता का प्रचार करते हैं। हिन्दूधर्मप्रचारक ही यदि ऐसी निंदा करें तो साम्प्रदायिक दुर्वृत्तगण क्यों नहीं देव-देवी को अपवित्र करेंगे ? क्यों मूर्ति को विध्वंस नहीं करेंगे ?

हिन्दू-मिलन मन्दिर के द्वारा इस प्रकार के रूढ़ीवाद का विरोध करके मिलन तथा समन्वय के आधार पर हिन्दू-जनगण को परस्पर सहयोग की भावना से एकत्र करना ही हमारा सर्व प्रथम कर्त्तव्य होगा।"

गाँव गाँव में हिन्दू संगठन कार्य के लिये संघ सन्तानों को अनेक बाधा विपत्तियों का सामना करना पड़ता था। विशेषकर हिन्दुओं में सहानुभूति के अभाव तथा निश्चेष्टता को देखकर वे निराश हो जाते थे और विचार करते थे मुट्ठी भर सन्यासी ब्रह्मचारी करोड़ों हिन्दुओं में कैसे जागृति ला सकेंगे। पत्थरों से शिर ठोंककर कहाँ तक चल सकेंगे। तब आचार्यदेव उनके हृदय में प्रेरणा देने के लिये इस प्रकार प्रोत्साहन देते:—

"हम लोग क्या नहीं कर सकते? हम लोगों को क्या मान-अपमान का भय है? किस काम से हम लोग पीछे हटते हैं? हम लोग त्यागी हैं। हम लोगों में किसी प्रकार की आसक्ति नहीं है, आशंका नहीं है, बन्धन नहीं है। दुख या मृत्यु से हमें क्या भय? किसकी चिंता है हम लोगों को? सूखी रोटी हो या मुट्ठीभर चना हो अथवा सम्पूर्ण रूप से उपवास करके भी रह सकते हैं। वृक्ष के नीचे पड़े रहें तो भी चिंता नहीं। किस बात की चिन्ता है? यह जो दिन रात परिश्रम करके देश विदेश से लाखों रुपया संग्रह करते हो इसका एक पैसा भी तो तुम लोग अपने विलास व्यसन

के लिये व्यय नहीं करते। जो कुछ आता है वही देश के कल्याण तथा जाति की सेवा में व्यय कर देते हो। वीर कर्मी कर्म क्षेत्र में सर्व प्रकार दुख, कष्ट तथा बाधाओं को अति तुच्छ समझता है। जाति की महामुक्ति के लिये हम लोगों को द्रुत गति से अग्रसर होना पड़ेगा। समग्र विश्व एकत्र होकर भी हमारी अग्रगति को व्याहत नहीं कर सकता। ब्रह्मशक्ति–भगवत-शक्ति ही हम लोगों की शक्ति है। इसके सम्मुख हिमालय भी फूँक से उड़ जायेगा, हिन्दू के धन मान-प्रतिष्ठा स्वार्थ की रक्षा के लिये हम लोग संग्राम क्षेत्र में उद्यत हैं, हम लोगों से ही यह कार्य सम्भव है, हम लोगों से यदि यह सम्भव न होगा तो और कौन यह कर सकेगा ?"

भारत - सेवाश्रम संघ - सन्यासी का संघ है, धर्म - प्रतिष्ठान है। परन्तु "हिन्दू - समाज समन्वय" आन्दोलन आरम्भ करके वह अपने भाव व आदर्श से हट तो नहीं गया है ? धर्मान्दोलन करना ही संघ का मूल उद्देश्य होना चाहिये। संघ - सन्तानों में जब इस प्रकार के द्वंद्व युक्त प्रश्न उठने लगे तब आचार्यदेव ने उन लोगों को स्थिर रखने के लिये इस प्रकार कहा— "मैंने कब कहा कि मैं सामाजिक आन्दोलन चाहता हूँ ? मैं धर्मान्दोलन चाहता हूँ। मैं धर्म के आधार पर जाति व समाज गठन करना चाहता हूँ। 'धर्म' 'धर्म' को ध्वनि उठाने से कुछ नहीं होता। जाति व समाज में जितनी समस्यायें हैं उनका समाधान धर्म में है, धर्म के आधार पर ही सब प्रकार के

अभाव - अभियोग - त्रुटि दुर्बलता विदूरित हो सकती है— इस सत्य को नहीं समझाने से कौन धर्म मानेगा ? इसलिए हिन्दू जाति गठन, हिन्दू-समाज-समन्वय, हिन्दू मिलन मन्दिर, हिन्दू संघ शक्ति गठन करना आवश्यक है। इसी के माध्यम से देशवासी में जागृति आयेगी। जो जाति का यथार्थ भूत-भविष्य जानता है, जिसे उसकी प्रकृति का परिचय है वह जानता है, कि कहाँ पर स्पर्श करने से समस्त जाति के अन्तर में जागृति आयेगी, उसी उद्देश्य से हमने 'हिन्दू-समाज-समन्वय' आन्दोलन का प्रवर्त्तन किया है।"

त्याग भारतीय-जाति, हिन्दू-जाति का आदर्श है। हिन्दू का धर्म, समाज, जाति, परिवार सब कुछ इस त्याग के आदर्श तथा साधना पर प्रतिष्ठित है। इस आदर्श से विच्युत वर्तमान हिन्दू, आज आत्म सुख परायण व स्वार्थान्वेषी हो गये हैं। यह त्याग ही संघ के हिन्दू संगठन का आधार है। अतः हिन्दू जनता को इस त्याग के आदर्श से उद्बुद्ध करना होगा। इन लोगों को सिखाना होगा कि देश-जाति समाज का स्वार्थ प्राथमिक वस्तु है। व्यक्तिगत सुख स्वार्थ का प्रश्न गौण होना चाहिये। संघ-सन्तानों को यह सिद्धान्त समझाने के लिये आचार्यदेव ने कहा—

"त्याग से अपार तेजो वीर्य की उपलब्धि होती है, भोग से मनुष्य शक्ति-साहस-विक्रम-पराक्रम से रहित हो जाता है। एक समय क्रान्तिकारी दल ने यथेष्ट त्याग-व संयम का आदर्श दिखाया था। यद्यपि उनका मार्ग अभ्रान्त नहीं था परन्तु उनकी पवित्रता, संयम, विलास हीन जीवन, सहन शीलता,

विपत्ति को झेलने का साहस तथा जाति के लिये बलिदान करने की शक्ति को कौन अस्वीकार कर सकता है ? सरकार अनेक प्रकार की दमन नीति से भी उनके उत्साह को दमित न कर सकी। राजकीय उत्पीड़न से उनका तेजोवीर्य उत्साह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। तब सरकार ने समझा कि यह नीति निष्फल है। और वह उन लोगों के लिये भोग विलास के साधन की व्यवस्था करने लगी। उन लोगों ने भ्रान्त बुद्धि से यही समझा कि सरकार का जितना व्यय हो अच्छा है। परिणाम यही हुआ कि सब भोग विलास में डूब गये। आज वे सब असाधारण कर्मी देश जाति को चिन्ता त्याग कर उदरान्न की चिन्ता में पड़े हैं। इसका कारण यही है कि उन्हें उचित नेतृत्व प्राप्त नहीं हुआ।"

गुरु रामदास ने शिवा जी को जातिगठन का कौन सा आदर्श दिखाया था ? यह राज्य भोगी का नहीं है, त्यागी सन्यासी का है—यह कहकर उन्हों ने अपने गैरिक वस्त्र से ध्वज बनाकर शिवाजी के हाथ में दे दिया। गुरु-गोविन्द ने कौन से आदर्श पर सिख सम्प्रदाय को संगठित किया ? गुरु के आदेश से सब कुछ-जीवन तक उत्सर्ग करने के लिये तत्पर रहना पड़ेगा-यही उनकी प्रेरणा व शिक्षा थी। इसीलिये मराठा व सिख जाति दुर्जय बनी थी। उस आदर्श

को त्यागकर जब वे धन के लोलुप व प्रभुता-प्रेमी बन गये तब उन लोगों का पतन हुआ। यही भाव व आदर्श हिन्दू जनगण के मस्तिष्क में प्रवेश कराना होगा।"

संघ के जातिगठन आन्दोलन व उसकी कर्म्म पद्धति, 'हिन्दू-मिलन-मन्दिर' की नीति व विशेषता समझाते हुये आचार्यदेव इस प्रकार कहते थे—

"हम लोग संस्कार मिलन तथा संगठन चाहते हैं, परन्तु जिससे समाज में सहसा कोई विप्लव या आदर्श विपर्यय की सृष्टि हो, ऐसा कार्य हम लोग नहीं करेंगे। हम लोग ऐसी सेवा करेंगे कि जिससे हिन्दूजाति सम्मिलित, सबल स्वस्थ, सतेज, संघबद्ध, शक्तिमान होकर अपने आदर्श पर चल सके।

भारतवर्ष की हिन्दूजाति को प्रकृति ही ऐसी है कि धर्म के आधार के सिवाय और किसी उपाय से समष्टि जीवन गठन नहीं हो सकता। काँग्रेस राजनीति तथा अर्थनीति के आधार पर समष्टि जीवन को गठन करना चाहती है। हम लोग धर्म के आधार पर जातिगठन करना चाहते हैं।

धर्म का उच्च भाव तथा आदर्श जनसाधारण के लिये नहीं है। समाज व परिवार के विविध प्रकार के सम्बन्ध, दायित्व तथा कर्त्तव्य में धर्म के जिस आदर्श का विकास प्रकाश होता है-वही जनसाधारण का धर्म है। उसी के

आधार पर समष्टि जीवन का गठन होता है। समाज में ही धर्म का व्यवहारिक स्वरूप परिलक्षित होता है।

हम लोग ऐसा मिलन क्षेत्र बनायेंगे जहाँ सब श्रेणो के हिन्दू एकत्र होंगे। इस क्षेत्र का नाम "हिन्दू-मिलन मन्दिर" होगा। वह हिन्दू का सार्वजनिक मिलन-क्षेत्र तथा सम्मिलित शक्ति केन्द्र होगा। त्योहार पर्व के समय तथा अन्य अवसरों पर भी सहस्रो हिन्दू वहाँ पर एकत्र होंगे। यह मिलन-मन्दिर धर्मप्रचार, शिक्षा-प्रसार, समाज-संस्कार तथा संघशक्ति संगठन का केन्द्र होगा, इस मिलन-मन्दिर से ही हिन्दू के परिवार, समाज तथा जातोय जीवन की समस्यायों का समाधान होगा।"

'हिन्दू - मिलन - मन्दिर' कर्म - पद्धति का प्रवर्त्तन

ई० सन् १९३४ से १९३८ के जुलाई तक आचार्यदेव हिन्दू जनता में हिन्दू-समाज-समन्वय आन्दोलन का आदर्श, उद्देश्य तथा कर्म पद्धति का प्रचार करते हुये उसके अनुकूल वातावरण की प्रस्तुति करते रहे। तथा हिन्दू समाज के लिये आत्मोत्सर्ग करने को प्रस्तुत संघ सन्यासियों में ओजस्विनी तथा गम्भीर वाणी से नवीन प्रेरणाओं का संचार करने लगे। तदनन्तर क्रमशः परिस्थिति अनुकूल होने लगी।

इस समय आचार्यदेव प्रचारक दल लेकर पूर्व बंगाल के शहरों में निकले। प्रत्येक स्थान पर असंख्य जनता की भीड़ लग जाती थी। हिन्दू संगठन की वाणी सुनने के लिये सहस्रों नर नारी अत्यन्त आग्रह पूर्वक घन्टों सभा में बैठे रहते थे। नेतागण आचार्यदेव से मिलकर मिलन-मन्दिर कर्म पद्धति पर विचार विमर्श करके मिलन-मन्दिर प्रतिष्ठा का प्रस्ताव ग्रहण करने लगे।

आचार्यदेव ने नेतागण को वार्त्तालाप के प्रसंग में कहा—"हिन्दू मिलन मन्दिर कोई सामान्य देव मन्दिर नहीं है। ऐसे

तो भारतवर्ष में सहस्रों मन्दिर हैं परन्तु उनके साथ हिन्दू के व्यवहारिक जीवन का सम्बन्ध नहीं है। कुछ उद्देश्य की पूर्ति के लिये लोग उन्हें मानते हैं तथा समय पर भोग इत्यादि चढ़ाते हैं। परन्तु वर्ष के अन्य समय में मन्दिर के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। चमगीदड़ और कबूतर ही वहाँ के स्थायी निवासी बन जाते हैं। हम ऐसा मन्दिर नहीं बनाना चाहते। किसी ने हमसे प्रश्न किया था– "महाराज देश में तो सहस्रों मन्दिर हैं। आप पुनः क्यों नया मन्दिर बनाना चाहते हैं ?" मैंने उनको इस प्रकार समझाया–हमारा मन्दिर ईंट पत्थर का मन्दिर नहीं है। हम छिन्न-भिन्न हिन्दू समाज को एकत्र कर मन्दिर बनाना चाहते हैं। हमारा हिन्दू 'मिलन-मंदिर'– सार्वजनीन मिलन क्षेत्र है। सब श्रेणी के हिन्दू का समवेत-भजन-पूजन व सब सामाजिक तथा जातीय समस्यायों के समाधान का क्षेत्र है। इस 'हिन्दू मिलन मन्दिर' को अलम्बन करके हिन्दू संघ-बद्ध तथा - शक्तिशाली बनेंगे। हिन्दू के पास विद्या-बुद्धि-धन प्रतिष्ठा सब कुछ है, यह सब रहते हुये भी संघ-शक्ति के अभाव से वे अत्याचारित, लांछित व विपन्न हैं। हम मिलन मंदिर के माध्यम से हिन्दू-संघ-शक्ति को सृष्टि करेंगे। प्रत्येक हिन्दू अनुभव करेगा हमारे पीछे कोटि कोटि हिन्दू की शक्ति है। दुष्ट दुर्वृत्त अपने से शान्त हो जायेंगे।

"शुद्धि के विषय में आचार्यदेव का कहना था अपने गृह का द्वार बन्द करके किसी को प्रवेश करने के लिये कहा जाय तो यह सम्पूर्ण निरर्थक है। धर्मान्तरित हिन्दूगण को शुद्ध करके समाज में ग्रहण करना चाहिये। एवं यह अत्यावश्यक है। हिन्दू ऋषि गण कोटि कोटि अनार्यों को शुद्ध करके उन्हें हिन्दू समाज में ग्रहण करते थे। इसलिये हिन्दू समाज इतना विशाल है परन्तु आज कौन इन लोगों को ग्रहण करने के लिये प्रस्तुत है। समाज आज किसका आदेश पालन करने के लिये प्रस्तुत है? समाज यदि अपने से प्रस्तुत नहीं है तो उसे बलात् कोई भी कुछ ग्रहण नहीं करा सकता। हिन्दू राज्यव्यवस्था रहने से सम्भवतः इस प्रसंग में चेष्टा का सुयोग मिल सकता था परन्तु वर्त्तमान स्थिति में व्यापक रूप से शुद्धि कार्य नहीं हो सकता। धीरे धीरे यह कार्य होगा, अभी भी हो रहा है।"

"केवल व्याख्यानों से यह काम नहीं होगा। समाज में सहानुभूति की भावना जाग्रत नहीं करने से, घृणा, तिरस्कार तथा अस्पृश्यता की कालिमा को दूर नहीं करने से यह काम सफल नहीं हो सकेगा। समाज में सहानुभूति पूर्वक सबों को आत्मसात् करते रहने से ही यह कार्य अग्रसर होगा। जिस कारण से लाखों नर नारी हिन्दू समाज को छोड़कर दूसरे धर्म व समाज के आश्रय में गये हैं। और

अभी भी यदि वही कुरीतियाँ चालू हों तो अपने समाज में कौन फिर आने की इच्छा रखेगा ? मुसलमान व खृष्ठान उनके धर्म के प्रचार करने के लिये सहस्रों प्रचारक नियुक्त कर कोटि कोटि अर्थ व्यय कर रहे हैं। और हिन्दू अपने धर्म के प्रचार के लिये क्या कर रहे हैं ? एक हिन्दू मुसलमान होने से शत शत मुसलमान उसके लिए अर्थ संग्रह कर देते हैं। परन्तु एक हिन्दू जब अपनी त्रुटि को समझ कर समाज में लौट आता है तो कोई भी उसे सहायता करने के लिए प्रस्तुत नहीं होता। किसी प्रकार की सहानुभूति भी नहीं दिखाता।

"हम ऐसा आन्दोलन उठाना चाहते हैं कि जिससे हजारों धर्मान्तरित नर-नारी हिन्दू समाज में प्रवेश करके आर्य आचार व आर्य हिन्दू धर्म को अपनायेंगे। मिलन-मन्दिर की कर्म-पद्धति से वह उद्देश्य पूरा होगा। गाँव-गाँव में मिलन-मन्दिर के साप्ताहिक अधिवेशन में हिन्दू समाज का आदर्श, हिन्दू शास्त्र के अनुसार विधि-विधान, हिन्दू धर्म के विवर्त्तन का इतिहास हिन्दू समाज के क्षय का कारण व उसके निरोध का उपाय इत्यादि विषय की आलोचना होगी जिससे हिन्दू उदार व सहानुभूतिशील बनेंगे। और उनमें समष्टि चेतना आयेगी। जब समाज में उदार भावना का संचार होगा तब उसमें प्रवेश के द्वार भी

उन्मुक्त हो जायेंगे, ऐसे अवसर पर सहस्रों को शुद्ध करके समाज में ले सकेंगे।"

अस्पृश्यता दूर करने का प्रश्न उठाते ही आचार्यदेव ने कहा—"हिन्दू कभी हिन्दू के लिये अस्पृश्य नहीं हो सकता। शास्त्र प्रणेता ऋषियों ने कभी इसको स्वीकार नहीं किया। यह तो प्राचीनकाल के जीवन में ही दिखलाई पड़ता है। मध्ययुग में धर्म-क्रान्ति, समाज-क्रान्ति, राष्ट्र-क्रान्ति के परिणाम तथा लोकाचार, देशाचार के गोरख धन्धे में पड़कर हिन्दू इस कुसंस्कार को पकड़े हुये हैं। इस छुआछूत के कलंक को धो डालना पड़ेगा।

"परन्तु यहाँ पर भी वही प्रश्न है। समाज यदि विवेक विचार से यह काम करने के लिये प्रस्तुत न हो तो बलपूर्वक यह काम नहीं हो सकता अतः जो लोग रातभर में छुआछूत को दूर कर सबको एक कर देना चाहते हैं उनका पथ न्यायसंगत नहीं है तथा उस जल्दबाजी से समाज का अनिष्ट भी हो सकता है। जनता को शास्त्र का तत्त्व व सदाचार समझाना होगा। आँखों में उँगली डालकर समझा देना पड़ेगा कि हिन्दू ऋषि व शास्त्रकारों ने इस छुआछूत प्रथा को नही चलाया, तथापि यह कुसंस्कार समाज का कितना सर्वनाश कर रहा है—इस सत्य को जब जनता अच्छी तरह से समझ जायेगी तभी

इस कलंक को दूर करने का मार्ग सुगम व सफल बन सकेगा।

हम 'मिलन-मन्दिर' की ओर से जन-साधारण में शास्त्र सदाचार प्रचार एवं अस्पृश्यता और अनाचरणीयता से समाज का जो कुछ अनिष्ट हो रहा है उसको समझा रहे हैं। इससे वह पाप समूल नष्ट हो जायेगा। हिन्दू समाज के सब श्रेणी के हिन्दू मिलन-मन्दिर में एकत्र होकर जब इस विषय पर विचार करेंगे तब यह सब स्वतः ही दूर हो जायेगा।

(१) समाज में व्यभिचार भ्रूण हत्या का निरोध करना (२) विधर्मीओ के षडयन्त्र से रक्षा (३) हिन्दू की संख्या वृद्धि; यह सब कारण दर्शाकर हिन्दू नेतामण ने विधवा विवाह समर्थन करते हुये इस विषय में आचार्यदेव के सिद्धान्त को जब जानना चाहा तब वे प्रशान्त, गम्भीर किन्तु दृढ़ता के साथ कहने लगे— "त्याग, संयम, ब्रह्मचर्य, सतीत्व, पातिव्रत्य ही हिन्दू-धर्म और समाज का आधार है। संसार के अन्य धर्ममत व समाज को धारा से यहीं पर हिन्दू को विशेषता है। यह विशिष्ठता नहीं रहेगी तो हिन्दू के बचने को कोई आवश्यकता नहीं है। विधवा विवाह से हिन्दू समाज के मूल में कुठाराघात करना होगा। यह तो प्रथम प्रश्न है। इसके अतिरिक्त पुर्नविवाह द्वारा और

भी अनेक समस्याओं की सृष्टि हो रही हैं—उस पर कोई ध्यान नहीं देता। समाज में लाखों कुमारियों का विवाह नहीं हो रहा है—उसका समाधान किस प्रकार हो सकेगा? विवाह नहीं होने से जब वे व्यभिचारिणी होकर धर्मान्तरित हो जायेंगी तब उसका क्या प्रतिकार होगा ?

"विधवा-विवाह स्वीकृत होने से—दाम्पत्य जीवन में क्या शान्ति की आशा रहेगी ? यदि पति को यह पूर्व से ही ज्ञात हो कि उसकी मृत्यु के साथ ही पत्नी दूसरे पुरुष को पति बनायेगी तब क्या उस पर उसका विश्वास या प्रेम रह सकेगा ? स्त्री में यदि यह भावना हो कि पति की मृत्यु होने से वह दूसरे के पास चली जायेगी तो पति के प्रति उसके हृदय में प्रेम-भक्ति-सेवा का भाव नहीं रह सकता। पुत्र कन्या को यदि ज्ञात हो कि पिता को मृत्यु होने से उसकी माता अन्य पुरुष की अनुगामिनी बनेगी तब उसपर श्रद्धा-भक्ति सम्मान की भावना नहीं रह सकती। स्वामी रोग-ग्रस्त, अशक्त, दुर्बल, विकलांग होने से अन्य पुरुष के पास जाने की अभिलाषा से उसे स्त्री विष देकर उसको हत्या करने में भी सुविधा नहीं करेगी इससे दाम्पत्य तथा गार्हस्थ्य जीवन की शेष समाधि रचना ही होगी पाश्चात्य देशों में जैसे तलाक के झगड़ों से, विवाह विच्छेद तथा पारिवारिक अशान्ती के कारणों से

न्यायालय भाराक्रान्त रहता है भारत में भी वही अशोभनीय कार्य आरम्भ होजायेगा। विधवा विवाह के समर्थक सर्वथा समाजके अनिष्टकारी हैं।"

हिन्दू समाज में भेद-विभेद-वैमनस्य तथा परस्पर विषमता इत्यादि समस्या पर ध्यान आकर्षित करते हुये वे हिन्दू नेतागण को कहते थे—"एकत्र चलते, फिरते, उठते बैठते रहने से अपरिचित अख्यात लोग भी सहोदर भ्राता की भाँति हो जाते हैं और मेल-मिलाप नहीं रहने से अपना भी पराया हो जाता है। विचारशील-बुद्धिमान व्यक्ति स्वयं ही समझ सकते हैं कि मिलन के अभाव से ही समाज में भेद-विभेद तथा सहयोगिता-समवेदना का अभाव है। एक उदार एवं पवित्र उद्देश्य से एकत्र सम्मिलित न होना ही इन सबकी उत्पत्ति का कारण है। गाँव गाँव में आत्म रक्षा, समाजरक्षा, धनमान-प्रतिष्ठा की रक्षा के उद्देश्य से सब श्रेणी के हिन्दू को सम्मिलित करने की चेष्टा करने से लगभग सभी समस्यायों का समाधान हो जायेगा। जो कुछ अवशिष्ट रहेगा वह धर्म के उदार सार्वजनीन आदर्श के प्रचार से स्वतः ही लुप्त हो जायेगा।"

इस प्रकार वार्तालाप से सबको एक नवीन प्रेरणा अभय, आश्वासन मिला और सब स्थानों पर नेतागण

मिलन-मन्दिर प्रतिष्ठा का संकल्प लेकर प्रस्ताव ग्रहण करने लगे। शहरों में मिलन-मन्दिर-कमेटी" गठित कर गाँव गाँव में मिलन-मन्दिर स्थापन के लिये प्रचार-पत्र भेजने लगे।

हिन्दू-समाज-समन्वय आन्दोलन

क

प्रभाव विस्तार

ई० सन्-१९३८ के आरम्भ से ही हिन्दू-मिलन-मन्दिर का कार्यक्रम चारो ओर प्रसारित होने लगा। गांव गांव में प्रचारक जाने लगे। और कभी कभी आचार्यदेव स्वयं सन्यासी-ब्रह्मचारी-कर्मीगण के साथ शहर और गांवों में जाकर जनता में प्रेरणा व उत्साह की सृष्टि करने लगे।

गया के पण्डों का दमन

इस समय बिहार में बंगाली बहिष्कार का जो आन्दोलन चलरहा था उसकी सुविधा लेकर गया के पण्डों ने सम्मिलित रूप से परामर्श किया कि संघ के गया-आश्रम में जितने यात्री हैं उन्हें पिण्डदान करने नहीं देंगे! उनका कूट षड्यन्त्र चारो ओर चलने लगा। सप्ताह भर पुलिस की सहायता से किसी प्रकार से कार्य चलता रहा। उधर गाँवों तथा शहरों में इसके प्रतिकार के लिये आन्दोलन होने लगा! समाचार पत्रों में इसकी चर्चा चलने लगी एक मास पश्चात् गया में यात्रियों का आना बन्द होने लगा। तब पण्डों को संघ के आन्दोलन की शक्ति का पता चला। वे आचार्यदेव की शरण में आकर

संघ के निर्देशानुसार कार्य करने के लिये प्रस्तुत हुये। इससे आचार्यदेव ने प्रसन्न होकर आन्दोलन बन्द कर दिया तत्पश्चात पण्डे लोग शान्त व संयत होकर कार्य करने लगे।

अन्नपूर्णा मन्दिर के अत्याचार का दमन

काशी के अन्नकूट उत्सव में असंख्य यात्री आते हैं। संघ की ओर से इस समय यात्रियों की सेवा की व्यवस्था होती है। एकदा महन्त के कर्मचारिओं को दर्शनार्थिनी महिलाओं के साथ अशिष्ट-व्यवहार करते देखकर संघ के सन्यासी तथा स्वयं सेवकों ने इसका प्रतिवाद किया इस पर उन लोगों ने स्वयं सेवकों पर आघात किया वउ नका शिर फोड़ दिया। समाचार-पत्रों में इसकी चर्चा चली परन्तु कुछ प्रतिकार नहीं हुआ।

दूसरे वर्ष काशीधाम में नवरात्रि के अवसर पर संघ की ओर से हिन्दू-सम्मेलन का जो अधिवेशन हुआ उसमें उत्तर प्रदेश के नेतागण व काशी के कमिश्नर मि० जे० एल० साठे को उपस्थिति में अन्नपूर्णा मन्दिर के अनाचार तथा अत्याचार के दमन के लिये एक प्रस्ताव किया गया और वह गृहीत भी हुआ। मन्दिर के महन्त ने इससे भयभीत होकर संघ के ऊपर मुकदमा चलाया। परन्तु उसका निर्णय संघ के प्रस्ताव के अनुकूल ही रहा। इससे मन्दिर में अनाचार बन्द हो गया। संघ की ओर से आज भी सेवाकार्य पूर्ववत ही होता आ रहा है।

महन्त व मठाधीशों के प्रति चेतावनी

ई० सन् १६३६ के जनवरी मास में काशी धाम में "Religious

Endowment Bill" के प्रतिवाद में 'अखिल-भारत-साधु-सम्मेलन' का अधिवेशन हुआ। किसी विशेष कारण से आचार्यदेव उसमें उपस्थित न हो सके। परन्तु हिन्दू जाति-धर्म व समाज की सेवा में साधुसमाज की निर्मम उदासीनता की ओर ध्यान आकर्षित कर इस संकटमय परिस्थिति में धर्म प्रचार व समाज-सेवा के प्रति साधु समाज के उत्तरदायित्व व कर्त्तव्यों का स्मरण कराते हुये उन्होंने एक स्मारक पत्र भेजा जिससे समवेत साधु-समाज में बड़ा कोलाहल आरम्भ हुआ। भारतवर्ष कीविभिन्न पत्रिकाओं में वह प्रकाशित हुआ। अनेक पत्रों में सम्पादकीय लेख भी निकला था। यद्यपि आत्म-विस्मृत आदर्श भ्रष्ट साधु इससे प्रसन्न नहीं हुये। नीचे उस निबन्ध का अनुवाद दिया जाता है :—

"काशी धाम में होने वाले "अखिल भारतीय-साधु सम्मेलन के निमंत्रण पत्र को मैंने आदर व गौरव के साथ स्वीकार किया। दुःख है कि इस सु अवसर पर आप लोगों के सत्संग का सदुपयोग न कर सका। क्योंकि संघ के संगठन कार्य में संलग्न रहने के कारण सम्मेलन में उपस्थित होना सम्भव पर नहीं हो सका। परन्तु मेरी पूर्ण आशा है कि साधु-समाज के सम्मुख जो संकट उपस्थित है। अखिल भारतीय साधु सम्मेलन में आप जैसे ज्ञानी, गुणी, व्यक्तियों की परिचालना से उसके समाधान की चेष्टा सफल होगी।

भारत का जातीय जीवन आज एक संकटमय क्रान्ति से गुजर रहा है। जाति की अन्तरात्मा चाहती है कि भारत के लाखों साधु-सन्त जन समाज की सेवा के लिये प्रस्तुत हो

जाँय । जाति को आध्यात्मिक तथा नैतिक जीवनी-शक्ति से पुनः संजीवित करें । कहने की आवश्यकता नहीं कि मैं गत कई वर्षों से समग्र साधु-समाज का ध्यान इस ओर आकर्षित करने के लिये प्रयत्न कर रहा हूँ । आज यह देखकर विशेष आनन्द हो रहा है कि साधु मण्डली अपनी चिन्ता व चेष्टा इस ओर प्रयोग करने के लिये कटिबद्ध हुई है ।

अतीत की सुउच्च धर्म महिमा का गौरव व गर्व ही भारत का एकमात्र अवलम्बन है—केवल इतना ही नहीं प्रत्युत, अभीतक भारतभूमि में लाखों सर्व त्यागी निःस्वार्थ सेवाव्रती साधु वर्तमान हैं । इस विशाल आध्यात्मिक सेना के लिये एकआध-रोटी तथा एक वस्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नही है । परन्तु प्रश्न यह उठता है इन लाखों त्यागी साधु में से कितने आज पश्चिमी जड़-वादी नास्तिक सभ्यता तथा संस्कृति के प्रबल प्रवाह को रोकने और भारत के घर घर में सनातन-धर्म के प्रचार के लिये कार्यरतहैं? आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये तपस्या करना और वही साधन-वाणी व प्रेरणा समाज के प्रत्येक नर-नारी के हृदय में भर देना ही क्या साधु का आदर्श व दायित्व नहीं है ? यदि यह सत्य है तो कितने साधु आज इस कर्त्तव्य व आदर्श का पालन करते हैं ? आज वह समय व सुअवसर आया है । भारतीय साधु-समाज की समग्र दृष्टि व ध्यान

इस ओर एकाग्र करके इस सनातन दायित्य का बीड़ा उठाना पड़ेगा।

सनातन धर्म के प्रचार व संरक्षण के लिये जो विशाल धन-सम्पत्ति समर्पित है एवं धर्म-गुरु, महन्त वर्ग सहस्रों वर्षों से जिसकी देखरेख करते हैं वही धर्मार्थ-सम्पत्ति आज सरकारी कानून से दूसरों के हाथ में चली जायगी—मैं इसका कट्टर विरोधी हूँ। इसके साथ साथ एक और विचार्य विषय पर आप का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ वह यह कि इस सम्पत्ति का कितना तुच्छ अंश इस सेवा कार्य के लिये व्यय किया जाता है। तथा अधिकाँश तो आत्म-प्रतिष्ठा और सुख सुविधा के लिये अपव्यय हो रहा हैं। यद्यपि महन्त व मठाधीशों में अनेक सच्चे भी हैं —उन लोगो का तो प्रश्न ही नहीं आता। आपने—Religious Endowment Bill के प्रतिवाद के लिये जो आन्दोलन उठाया है उसमें हमारा हार्दिक अनुमोदन है। परन्तु संशय यह है कि जब तक उस सम्पत्ति का अधिकांश धर्म प्रचार एवं समाज सेवा के लिये व्यय करने की व्यवस्था नहीं होगी तब तक जनता की सहानुभूति नहीं प्राप्त होगी।

मेरा अभिप्राय आप लोगों के सम्मुख स्पष्ट कर चुका हूँ। आशा है इस आन्दोलन के साथ साथ जाति की मांग पूरी हो ऐसी व्यवस्था आप करेंगे।"

हिन्दू-संगठन कार्य में नेतागण को आमन्त्रण

ई० सन् १९३८ में कलकत्ता के हिन्दू-नेतागण तथा प्रमुख हिन्दु नागरिकों की उपस्थिति में एक सम्मेलन बुलाया गया। उसमें आचार्यदेव ने "विपन्न हिन्दू की आत्मरक्षा के उपाय" के विषय में जो कुछ कहा उससे हिन्दू नेतृ-वर्ग में विशेष चेतना व उत्साह जाग्रत हुआ। उनका मन्तव्य इस प्रकार था।

विभिन्न जिलों के प्राय: सौ मिलन-मन्दिर से प्रतिदिन जो कुछ समाचर आरहा है उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि धन-मान-प्रतिष्ठा तथा स्त्री का सम्मान लेकर गावों में रहना असम्भव सा हो गया है।

एक लम्बी अवधि से हिन्दू सब कुछ सहन करते आये हैं, उन्होंने अनेक अत्याचार के पश्चात् भी कुछ नहीं किया। काँग्रेस की ओर से मिलन तथा शान्ति के लिये अनेक चेष्टायें हुईं हैं। सभी प्रस्तावों के सम्मुख वे सम्मत होते आये हैं, परन्तु पीड़न, अत्याचार का प्रवाह शान्त होना तो दूर रहा जलप्लावन की भाँति विस्तृत होता जा रहा है। सहन करते करते आज उसके सम्मुख जीवन-मृत्यु का प्रश्न उपस्थित हुआ है। इस शोचनीय अवस्था में यदि हिन्दू की रक्षा करना हो तो दृढ़ता के साथ इसका प्रतिवाद तथा वीरता के साथ इसके प्रतिकार के लिये संकल्प लेना पड़ेगा और उसके लिये शक्ति-संग्रह करना पड़ेगा। शक्ति-संग्रह करने का तात्पर्य संघर्ष के लिये षडयन्त्र करना नहीं है। द्वन्द द्वेष कलह से मिलन नहीं हो सकता। मैं पुन: कहता हूँ कि

मुसलमानों से विरोध करने के लिये हिन्दू-संगठन नहीं करना है। प्रत्युत स्वरक्षण के लिये हिन्दू को कटिबद्ध-होना चाहिये। हिन्दू-संघ-शक्ति-गठन ही आत्मरक्षा के लिये शक्ति संग्रह करने का सरल मार्ग है। हिन्दू-संघ शक्ति गठन के लिये उन्नत तथा अनुन्नत हिन्दू जनता का मिलन आवश्यक है। इस मिलन के मार्ग को प्रशस्त करने के लिये–एक ओर उच्च वर्ग के हिन्दुओं को अस्पृश्यता के कलंक को दूरकर निम्न वर्ग के हिन्दू-भाइयों को धार्मिक व सामाजिक अधिकार देना पड़ेगा और दूसरी ओर अनुन्नत वर्ग कोभी दूसरे धर्मावलम्बी की प्रवञ्चना व लोभ की ओर ध्यान न देकर उच्च वर्ग के प्रति सर्व प्रकार के द्वेष क्षोभ से रहित होकर निष्कपट भाव से हिन्दू-मिलन-यज्ञ में भाग लेना पड़ेगा। जाति के सम्मुख यह स्पष्ट कहना पड़ेगा कि आत्मरक्षा का प्रश्न ही आज सबसे प्रधान व प्रथम है। इससे छोटे मोटे भेद-भाव का प्रश्न अपने आप ही मिट जायेगा। हिन्दू-संघ-शक्ति-गठन के लिये ही हमारी "हिन्दू-मिलन-मन्दिर" कर्म पद्धति है–जिलों में, तहसीलों में तथा गावों में मिलन-मन्दिर स्थापित कर सबमें ऐसा संयोग स्थापन करना चाहते हैं कि केन्द्र में किसी प्रकार आन्दोलन उठाने से सारी हिन्दू जनता से सहायता व सहयोग प्राप्त हो सके।"

और एक सम्मेलन में आचार्यदेव ने अपने भाषण में कहा–"हिन्दू सन्तानों के प्रति हमारा यह निर्देश है कि

स्वक्षण के लिये परस्पर सहयोगिता का भाव लेकर संघ-बद्ध हो जाओ, परन्तु हिन्दू में आज मिलन तथा सहयोगिता के लिये आग्रह-आकांक्षा कहाँ है ? सब श्रेणी के हिन्दू के ऊपर आज विपत्ति की घोर घटायें छाई हैं, तथापि उनमें आत्मरक्षा की चेष्टा नहीं है। उनके सामने छोटे छोटे भेद-भाव अस्पृश्यता का रोड़ा अटका हुआ है। स्वयं शान्त व निश्चेष्ट होकर बैठे रहेंगे तथा दूसरों की आलोचना करेंगे–इससे कोई लाभ नहीं होगा। हिन्दू को बचना हो तो शीघ्रातिशीघ्र सहयोगिता के सूत्र में बँधकर तथा कथित अनुन्नत श्रेणी के भाइयों के साथ मर्यादा व आदर पूर्वक एकत्र होकर साम्प्रदायिक संघर्ष का समना करना पड़ेगा। हिन्दू जाति की जातीय पताका में स्वर्णाक्षरों से लिखदो– भेद-विच्छेद नहीं, मिलन चाहिये। घृणा नहीं, सहयोगिता चाहिये, कायरता नहीं, वीरत्त्व चाहिये।"

इसके पश्चात् फरवरी मास में बहुत ही विराट रूप से एक सम्मेलन का आयोजन हुआ। उसमें प्रायः एक लाख नर-नारिओं का समावेश हुआ। आचार्यदेव ने अपने अभिभाषण में कहा–

"भारत की विशाल जनता में से जिनकी संख्या केवल ८ करोड़ है वह ईसाई व मुसलमान सुगठित और सुरक्षित हैं। और जिनकी संख्या २६ करोड़ है वह विशाल जनता छन्न-विच्छिन्न अवस्था में पड़ी हुई। दुर्बल और आत्मरक्षा में

अशक्त है। हिन्दू जाति गठन या हिन्दू संघ शक्ति-गठन ही भारत की मूल समस्या है। वर्त्तमान समय में हिन्दू के जातीय जीवन के सम्मुख धर्म-रक्षा व धर्मप्रचार, आत्मरक्षा व आत्मप्रसार, राष्ट्रीय स्वार्थ तथा अधिकार की रक्षा, समाज संस्कार व संगठन, नारी, रक्षा निम्न वर्गों का उन्नयन, संख्या-क्षय का निरोध, संख्या वृद्धि इत्यादि अनेक प्रश्न उपस्थित हैं। सभी समस्याओं के समाधान के लिये शक्ति, तथा प्रति विधान के लिये सुदृढ़ संकल्प चाहिये। दुर्बलता तो महा-अपराध है। कायरता हो महान पाप है। ध्वंस और विनाश ही इस महापाप का अवश्यम्भावी परिणाम है।

"नीतिशास्त्र की वाणी, दार्शनिक-उपदेश कभी हिंसा का सामना नहीं कर सकते। युक्ति-तर्क-न्याय-विचार दुर्बल की रक्षा नहीं कर सकता। शक्ति का अनुशीलन व जागरण न कर केवल अत्याचारी की निन्दा, समालोचना तथा अपवाद देना ही प्रतिकार एवं प्रतिविधान का मार्ग नहीं है।"

स्वधर्म में श्रद्धा तथा विश्वास का अभाव हो हिन्दू जाति की दुर्बलता का मुख्य कारण है। समाज में भेद-विभेद हिंसा द्वेष ही दूसरा कारण है। स्वधर्म में निष्ठा व विश्वास न रहने के कारण धर्मानुष्ठान में प्राण या उत्साह नहीं है

है अतः उसका फल भी कुछ नहीं होता। समाज जीवन में शास्त्र-सदाचार के नाम से अस्पृश्यता अनाचार को अपना कर हिन्दू असंख्य भेद विभेद की सृष्टि करते हुये दुर्बल होते जा रहे हैं। स्वधर्म में अटूट विश्वास, निष्ठा व गौरव बोध ही हिन्दू में पुनरुत्थान की प्रेरणा भर सकती है। शक्ति को साधना ही हिन्दू का धर्म है। हिन्दू धर्म के अनुष्ठानों में वीरत्व का भाव जाग्रत करना पड़ेगा। हिन्दू के देव देवी अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित हैं। और शत्रु को नाश करने के लिये सग्राम करने को सदा उद्यत हैं। भाग्य की विडम्बना है कि वही हिन्दू आज आत्मरक्षा के लिये एक छोटी मोटी लकड़ी भी नहीं उठा सकता है।

आत्मरक्षा ही हिन्दू के लिये आज सबसे प्रधान विचारणीय प्रश्न है। शक्ति-शाली सघ-शक्ति संगठन ही उसका रामबाण है। मिलन व सहयोगिता ही इस संघ-शक्ति गठन का प्रथम सोपान है। हिन्दू के सार्वजनीन धर्मादर्श व धर्मानुष्ठान के आधार पर यह मिलन व सहयोगिता सम्भव है गाँव गाँव में मिलन-मन्दिर-स्थापित कर मूल केन्द्र के साथ सम्बन्ध स्थापित करना पड़ेगा। जिससे देश के किसी कोने में किसी हिन्दू पर आक्रमण होने से सब हिन्दू जाग्रत हो जायेंगे और समवेत शक्ति से उसके प्रतिकार तथा प्रतिविधान के लिये प्रयास करेंगे।

प्रत्येक केन्द्र में रक्षकदल गठन करना पड़ेगा। स्वधर्म की रक्षा के लिये बलिदान होना और समाज सेवा में सब कुछ न्योछावर करना ही यथार्थ धर्मसाधना है इस सिद्धांत को प्रत्येक हिन्दू-सन्तान अपने हृदय पर अमिट अक्षरों से लिखलें।

आत्मरक्षा के संकल्प का संचार व रक्षकदल आन्दोलन

ई० सन् १९४० ई० के मार्च मास में शिवरात्रि के अवसर पर स्वसरु मन्मथनाथ मुखोपाध्याय के सभापतित्व में एक हिन्दू सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। उसमें आत्मरक्षा का संकल्प व रक्षक दल गठन का प्रस्ताव गृहीत हुआ। उस सम्मेलन के लिये आचार्यदेव ने जो वाणी प्रदान की उसमें उन्होंने कहा था—"आज हिन्दू पर अन्तर बाहर सभी ओर से आक्रमण हो रहे हैं। आत्मरक्षा का प्रश्न ही आज मुख्य समस्या है। राजनैतिक क्षेत्र में दोनों पक्षों में एक शान्ति बैठक बुलाने की चर्चा चल रही है परन्तु गावों में हिन्दू ग्राम वासी पर अत्याचार, मन्दिर व देवमूर्ति की लाञ्छना व नारी हरण व नारी का अपमान इत्यादि जो सब अनाचार दुराचार चल रहे हैं उन्हें देखकर धैर्य धारण करना आज असम्भव है। जब तक ग्रामवासी हिन्दू आत्म-रक्षा के लिये संघ-बद्ध व प्रस्तुत नहीं होंगे तब तक केवल राजनीति की चर्चा से दुष्ट दुर्वृत्तों से बचना असम्भव है।

आत्मरक्षा की चेष्टा तथा सामर्थ्य जिसमें नहीं है ऐसे दुर्बल की रक्षा न्याय विचार या कानूनी रक्षा-कवच से नहीं हो सकती।

हिन्दू के सामाजिक व जातीय जीवन की परिस्थिति अनुभव करके कर्मपद्धति गृहण करने के लिये हम विचार शील तथा आग्रही नेतागण को आमन्त्रण दे रहे हैं हम विशेष रूप से सुनाना चाहते हैं कि राजनैतिक क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमान में मित्रता तथा सहयोगिता स्थापित होने पर भी हिन्दू संगठन की प्रयोजनीयता परम आवश्यक है। इस प्रकार हिन्दू-समाज का संशोधन तथा संगठन, छिन्न-भिन्न हिन्दू जनता को एक धर्म, एक संस्कृति एक भ्रातृत्व की चेतना से उद्बुद्ध तथा संघ-बद्ध करना ही हिन्दू-संगठन का उद्देश्य है। इसमें मुसलमान से विरोध या द्वेष का कोई प्रश्न ही नहीं आ सकता है। प्रत्युत हमें विश्वास है कि विभिन्न श्रेणी के हिन्दुओं में मिलन व सहयोगिता जितनी शीघ्र जाग्रत होगी। हिन्दू व मुसलमान में मेल-मिलाप और सहयोगिता की भावना उतनी ही जल्दी सम्भव होगी परन्तु शताब्दियों से छिन्न-भिन्न अवस्था में रहते हुये हिन्दू में शृंखला व संघ शक्ति निर्माण करने के लिये व्यवस्थित तथा सुनियन्त्रित कर्म पद्धति का अनुशीलन परम आवश्यक है। इस विषय में विचार करके हमने 'हिन्दू रक्षक दल' गठन करने के लिये संकल्प लिया है। इस रक्षकदल गठन

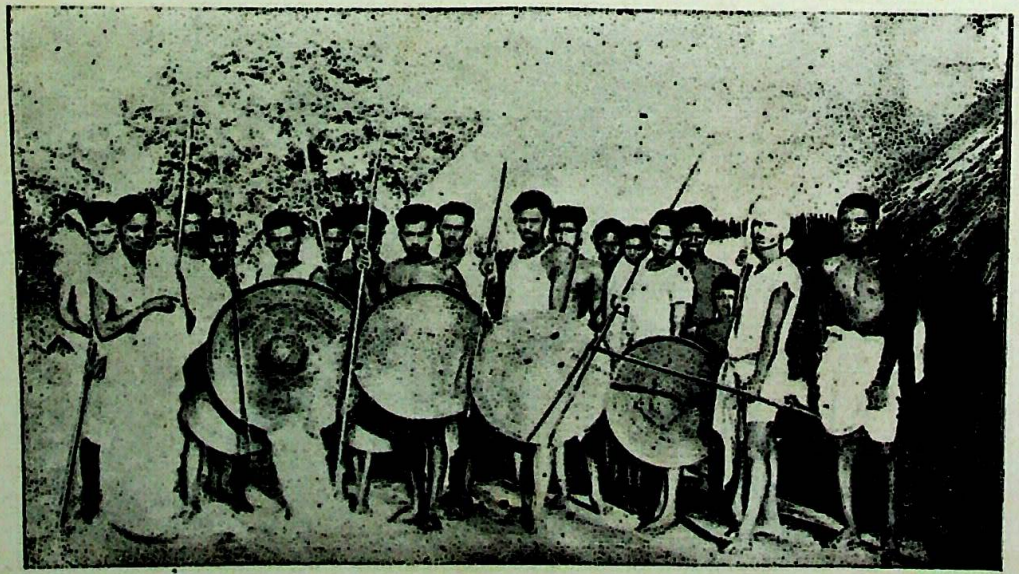

ग्राम रक्षक वाहिनी

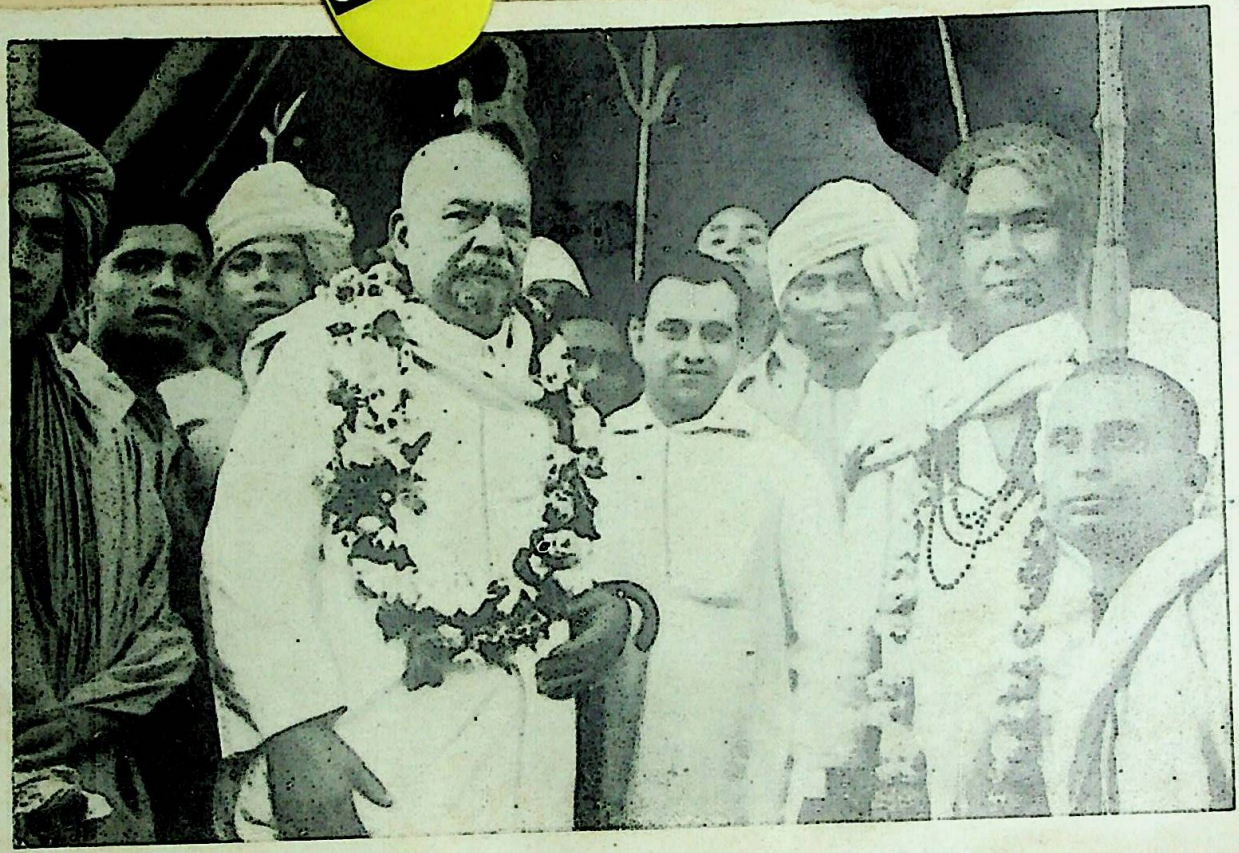

आचार्यदेव व सर मन्मथनाथ मुखर्जी

के कार्य-क्रम से हिन्दू जनता में आत्मरक्षा का संकल्प शीघ्र संचारित होगा।

एवं शक्ति चर्चा की आकांक्षा जाग्रत होगी। संघ शक्ति के विकास के साथ-साथ आत्मरक्षा का सामर्थ्य भी आयेगा।"

सम्मेलन में रक्षकदल-गठन का प्रस्ताव गृहीत होते ही आचार्यदेव ने सन्यासो व कर्मीगण को गांवों तथा शहरों में रक्षकदल गठन करने के लिये नियोग किया। इसके पश्चात् बंगाल-बिहार और उत्तर प्रदेश के कई शहरों में व्यापक रूप से हिन्दू सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। उसमें हिन्दू संगठन कार्य-क्रम पर विचार विमर्श तथा प्रस्ताव गृहीत हुये।

पार्वत्य हिन्दू-सम्मेलन

१ ली तथा २ री नवम्बर को बिहार-प्रान्त के मानभूम जिला के पार्वत्य अंचल में हिन्दू निवासियों के सादर साग्रह आमन्त्रण से आचार्यदेव 'सेनेड़ा' हिन्दू सम्मेलन में पधारे थे। इस सम्मेलन में सहस्रों सांथाल, मुण्डा, बाउरी-प्रभृति सम्प्रदायों का समावेश हुआ था। आद्रा, रघुनाथपुर, पुरुलिया इत्यादि स्थानों के अनेक नेतागण व अग्रणी नागरिक इसमें उपस्थित हुये। दो दिन तक सार्वजनीन यज्ञ, भजन-कीर्तन, व सभा में हिन्दू धर्म व समाज के विषय में भाषण, तीरधनुष, लाठी का खेल इत्यादि हुआ। आचार्यदेव ने समागत सहस्रों पार्वत्य नरनारियों को आशीर्वाद दिया। वे अनुभव करने लगे मानों—प्रभु श्रीरामचन्द्र अवतरण कर करुणा-द्रवित हृदय से केवट, गुहक, एवं अनेक वनवासिओं को तथा आदि वासिओं को यहां तक कि हनुमान, बन्दर व

भालुओं को भी आशीर्वाद दे रहे हैं। सम्मेलन में आचार्यदेव ने कहा :-

"सहस्रों वर्ष तक सुव्यवस्थित प्रचार एवं हिन्दू जाति के आत्म-प्रसार-प्रवृत्ति के अभाव से हिन्दू-समाज आज अचल तथा विकलांग हो गया है। परिणाम यह हुआ है कि शताब्दियों से हिन्दू-समाज के साथ रहते हुये, हिन्दू नाम से परिचय देते हुये भी लाखों सांताल, मुन्डा-बाउरी प्रभृति आज धर्मान्तरित हो रहे हैं। हिन्दू-धर्म के उदार-भाव व आदर्श द्वारा इस पार्वत्य हिन्दू-जनता को हिन्दू समाज में योग्य स्थान देना हिन्दू-संगठन का अन्यतम उद्देश्य होना चाहिये। धर्म-शिक्षा व स्वास्थ्य–तीन प्रकार से इनकी सेवा अत्यावश्यक है। संघ के मिलन मन्दिरों से इस दिशा में कार्य हो रहा है।"

श्री श्री प्रणव-मठ प्रतिष्ठा

व

जगद्गुरु के रूप में अर्घ्य ग्रहण

पहले ही हम लोगों ने देखाहै-कि संघ के कर्म प्रसार होने के साथ ही आचार्यदेव ने संघ को कानूनन विधिबद्ध एवं संचालक समिति गठित कर संघ को सुदृढ़ नीव पर प्रतिष्ठित किया। **"कर्म चक्र"** के साथ साथ आचार्यदेव ने **'धर्म चक्र'** का प्रवर्त्तन किया। उस 'धर्म चक्र' के प्रचार व प्रसार के साथ कैसे उसको सुदृढ़ भूमिका पर प्रतिष्ठित किया जाय इस विषय में आचार्यदेव विचार कर रहे थे।

जिस भाव, आदर्श तथा साधना के आधार पर आचार्य का अभीष्ट-भविष्य धर्म राज्य गठित होकर कोटि कोटि नर-नारियों को आश्रय देकर शक्ति-शान्ति व मुक्ति का अमृतदान करेगा। उसके मूल उत्स को सुदृढ़ और यथा सम्भव कालजयी व सुरक्षित बनाने के लिये वे आग्रह पूर्वक समयकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

१९२८ ई० में आचार्यदेव के एक शिष्य ने कुछ धन उनकी सेवा के लिये देने का आग्रह किया। उस धन से उनकी तपस्या के स्थान पर "श्री श्री प्रणव-मठ" की स्थापना व सिद्धपीठ में मन्दिर निर्माण की परिकल्पना

स्थिर करके कई सन्यासियों को लेकर उन्होंने कार्यारम्भ किया। १९२९ के मार्च मास तक सिद्ध-पीठ का वह मन्दिर समाप्त हो गया।

१९२९ ई० के दिसेम्बर मास से अस्वस्थ होकर आचार्यदेव शय्या वश हो गये। फरवरी मास तक वे अस्वस्थ रहे। अस्वस्थता के कारण १९३० साल के प्रयाग कुम्भ मेला में संघ की ओर से व्यापक सेवाकार्य तथा धर्म प्रचार अनुष्ठान की व्यवस्था होने पर भी आचार्यदेव वहाँ नहीं पधारे। तदुपरान्त माघी-पूर्णिमा में सिद्धपीठ के सघ-महोत्सव सम्मेलन में भी स्थूल शरीर में उपस्थित रहकर आशीर्वाद दान नहीं किया। परन्तु संघ के जो सन्यासी माघी-पूर्णिमा के उत्सव पर सिद्धपीठ में उपस्थित थे उन सबों ने एक ही स्वर से कहा था कि उस समय आचार्यदेव की अलौकिक शक्तिव प्रभाव ने वहाँ उपस्थित होकर सहस्रों नरनारिओं को भावावेश में ऐसा तन्मय व तल्लीन कर रखा था कि किसी के हृदय में यह आया ही नहीं कि आचार्यदेव वहाँ पर उपस्थित नहीं थे। उसी समय जो सन्यासीगण कलकत्ता में आचार्यदेव के निकट सेवा सुश्रुषा में संलग्न थे उनसे ज्ञात हुआ कि माघी पूर्णिमा के दो दिन तक आचार्यदेव सिद्धपीठ की चिन्ता में तन्मय व बाह्य ज्ञान से रहित अवस्था में एक अलौकिक स्थिति में विराजमान थे। उस समय के दर्शकगण की यही सत्यतम अनुभूति थी कि आचार्यदेव महाभाव में योगस्थ हैं। उनका स्थूल शरीर शय्या पर था परन्तु वे योग बल से सिद्धपीठ में ही थे।

मठ - प्रतिष्ठा उत्सव

मार्च मास में आचार्यदेव संघ के सुन्दर बन अंचल के आशासुनी आश्रम के वार्षिक उत्सव में पधारे। वहाँ से सब सन्यासी ब्रह्मचारी

को साथ लेकर "श्री श्री प्रणवमठ व सिद्धपीठ मन्दिर" प्रतिष्ठा का आयोजन किया। चारो ओर गावों में प्रचारक भेजे गये। आचार्यदेव अस्वस्थ हैं जानकर सब बड़े ही उद्वेग में थे। जब समाचार प्रचारित हुआ कि वे आ गये हैं तो उनके दर्शन के लिये ऐसा उमंग आया कि दूर दूर से शतशत नर नारी आकुल आग्रह पूर्वक वहाँ पर उपस्थित हुये।

सन् १९३६ के ७ व ८ चैत्र को इस मठ-प्रतिष्ठा का उत्सव-सम्मेलन सम्पन्न हुआ। ७ चैत्र ब्राह्म मुहूर्त्त से आचार्यदेव में महाप्रकाश के लक्षण प्रगटित हुये। एक प्रहर तक महाभाव में समाहित स्थिति में उन्होंने पूजा आरती ग्रहण कर सबको आशीर्वाद दान कर कीर्तन आरम्भ करने का आदेश किया। दिनभर "हर-गुरुशंकर शिव शम्भो"—सिद्धपीठ में प्राप्त इस युग के तारक-ब्रह्म नाम का कीर्तन होने लगा।

एक अपूर्व महाभाव का प्रवाह उद्वेलित हुआ। उपस्थित सब नरनारी स्थान काल विस्मृत होकर एक अपूर्व दिव्यधाम में बिहार करने लगे। आचार्यदेव सिद्धपीठ में समासीन होकर सब नरनारियों को आशीर्वाद दान व शक्ति-संचार करने लगे। मन्दिर के तीनों ओर के द्वार उन्मुक्त कर दिये गये और हिन्दू-मुसलमान प्रबल जलस्रोत की भाँति मन्दिर में जाकर दर्शन प्रणाम और आशीर्वाद ग्रहण करने लगे। घण्टे पर घण्टा प्रहर पर प्रहर इसी प्रकार महाशक्ति व आशीर्वाद वितरण की अपूर्व लीला चलती रही।

अभिषेक के समय महाभाव का ऐसा वातावरण सृजन हुआ कि सब नरनारी अनुभव करने लगे कि धर्मराज्य संस्थापनार्थ अवतीर्ण आचार्य को संसार के सब नरनारी जगदगुरु के महासिंहासन पर अभिषेक कर रहे हैं।

यज्ञ वेदी के सम्मुख पूजा आरति के आसन में समासीन-त्रिशूल धारी, जटाजाल शोभित, रुद्राक्षमण्डित विशालकाय, स्थिर-गम्भीर-समाहित आचार्यदेव को देखकर सब अनुभव करने लगे कि मानों स्वयं यज्ञेश्वर शिव विराजमान हैं।

विश्वकर्म्मा आचार्यदेव

मठ का निर्माण कार्य आचार्यदेव ने स्वयं उपस्थित रहकर कराया था। शतशत, मजदूर-राजमिस्त्री उनके तत्त्वावधान में ही कार्य करते थे, दिन रात अवसर नहीं था। सब कार्य-निर्माण कार्य की आवश्यक वस्तुओं को खरीदना, कसको कहाँ पर किस कार्य में नियुक्त करना कहाँ पर कैसा–निर्माण कार्य करना, उसकी परिकल्पना (Plan) या उसमें सम्भावित व्यय (Estimate) सब कुछ स्वयं ही करते थे। सबेरे ५ बजे से कार्य आरंभ होता था तथा मध्यान्ह तक सतत कर्मरत रहते थे। सन्यासी, ब्रह्मचारी, बालक, युवक, वृद्ध जो कोई आता था उससे कुछ न कुछ कार्य करा लेते थे। प्रत्येक को यत् किंचित् कार्य करने का सुयोग प्राप्त होने से वह अपने को अति ही कृतार्थ मानता था। यह सब निर्माण कार्य उन्हें अल्प समय में ही करना पड़ा। समग्र देश ही उनका कर्मक्षेत्र था। अनेक प्रकार के कार्य चलते थे। इस स्थिति में अधिक दिन तक मठ में बैठकर कामकाज कराने का समय ही नहीं था। इसके अतिरिक्त मठ में अवस्थान काल में भी गाँव के विवाद-विसंवाद, वैर-वैषम्य की मीमांसा, बालक-युवक गण के चरित्रगठन की चेष्टा, मठ के विभिन्न उत्सव पर्व का अनुष्ठान, प्रातः सन्ध्या में पूजा आरति ग्रहणकर भक्त सन्तानगण को आशीर्वाद दान; प्रतिदिन दोपहर व रात्रि को चार, पाँच घण्टे तक

बैठकर सबको अपने सम्मुख भोजन कराना, समागत धर्मार्थी, साधन-दीक्षा-प्रार्थी-नरनारी को दर्शन-उपदेश, साधन-दान, नमः शूद्र प्रभृति हिन्दू जनता में जागृति लाने के लिये विभिन्न उपायों से उन्हें सम्मिलित व संघ बद्ध कराके समाज के उच्च वर्ग में सम्मिलित कराना, इस प्रकार के असंख्य कार्यों में संलग्न रहते थे। जब कभी उनके साथ रहने का सुयोग मिला है—उस समय उनके कार्य देखते देखते थक जाता था। जब जहाँ पर रहते थे वहाँ पर कर्म का महोत्सव चलता था। कर्म के महत् प्रवाह में आबाल-वृद्ध सबको निमग्न रखते थे। किसी को बैठने नहीं देते थे। सबको काम काज करने का सुयोग मिले ऐसे ही कर्म की वे सृष्टि करते थे। उनके कर्म चक्र के गतिवेग व सबका उसमें हाथ बटाना देखकर सबको मानो श्री रामचन्द्रजी के सेतुबन्धन का स्मरण हो आता था।

आचार्य के शरीर में संकटजनक व्याधि

१६२६ ई० में आचार्यदेव अस्वस्थ हो गये। स्थिति अत्यन्त ही संकट मय हो गई। फरवरी मास के अन्त में कान में अत्यन्त पीड़ा हुई। एक बार अस्त्रोपचार हुआ। उससे कुछ उपकार नहीं हुआ। अनन्तर होमियोपैथी के प्रयोग से आरोग्य हुआ।

आचार्यदेव के शरीर-धारण का संकल्प शिथिल होना

जब इस संकट पूर्ण व्याधि से आचार्यदेव शय्या वश थे उस समय उनके शरीर धारण करने का संकल्प शिथिल हो गया। समय समय पर विभिन्न

उपायों से वे इसका संकेत करने लगे। इस संकट पूर्ण व्याधि का समाचार प्राप्त होने के साथ ही विभिन्न स्थानों में जो सब सन्यासीगण कार्य संलग्न थे उनमें से अनेक कलकत्ता आकर उनकी सेवा में लग गये।

अस्त्रोपचार हो गया, सिर में बैन्डेज बंधा है; जटाजाल बिखरे हैं; बिमारी से विशाल शरीर केवल अस्थिचर्ममय क्षीण हो गया है, ज्वर १०५ डिग्री चढ़ रहा है शरीर में असह्य ज्वलन है—बालक की भाँति अधीर हो रहे हैं। परन्तु आश्चर्य ! चारो ओर घेर कर बैठे हुए विषादग्रस्त सन्यासी संघ-सन्तानों से कामकाज की बातें और उपदेश करते जा रहे हैं। उस अवस्था में भी भाषा स्नेह-वात्सल्य पूर्ण और मधुर है। आचार्यदेव ने कई सन्यासियों को वैराग्यपूर्ण संगीत गाने के लिये कहा। उनमें से एक के पश्चात् एक गायन गाने लगे। सब अनुभव करने लगे कि आचार्यदेव महाप्रयाण के लिये प्रस्तुत हैं। संघ सन्तानगण विषाद व अवसाद से अर्द्धमृत हो गये। अनेक सन्यासी-प्रार्थना करने लगे कि महा प्रयाण के समय उन्हें साथ ले जाँयें। उस समय आचार्यदेव का अपने शरीर पर आकर्षण नहीं रहा। परन्तु वे देखने लगे कि आरब्ध कार्य अभी भी सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित नहीं हुआ। उस विराट कार्य को कराने के लिये उनके त्यागी सन्यासी गण प्रस्तुत नहीं हुए। अतः उन्होंने और थोड़े समय तक इस स्थूल शरीर में रहकर आरब्ध कार्य को पूरा करने का विचार किया।

शरीरधारण के संकल्प का पुर्नजागरण

कतिपय दिवस इसी प्रकार व्यतीत हुये। सायंकाल में व्याधि का प्रकोप अधिक होता था और आचार्यदेव यन्त्रणा से व्याकुल हो उठते थे।

वैराग्य का संगीत भी निरन्तर चलता था। एक दिन उन्होंने एक सन्यासी से कहा—"बोल तो, तू क्यों आया है? गुरुदेव विदा हो रहे हैं इस समय जो कुछ प्राप्त हो जाये वही सही—क्या इस विचार से आया है? बोलता क्यों नहीं? सबके सामने स्पष्ट कह दे।" उस सन्यासी को बारम्बार इस प्रकार कहते रहे। पुनः आरम्भ किया—"मेरा शरीर छूट जाने से ट्रेन-स्टीमर से बाजितपुर ले जाना। वहाँ सिद्धपीठ के मन्दिर में जिस वेदी के ऊपर आरति का सिंहासन है उसी वेदी के अन्दर स्थान बनाकर बालू भर कर रखी है। वह बालू हटाकर उसी वेदी के भीतर देह को रखना—समझा! और कोई मन्दिर नहीं बनाना।"

चारो ओर प्रायः पचास सन्यासी निर्वाक व स्तम्भित बैठे हुये यह सब हृदय विदारक वचन सुन रहे थे। भावना चिन्ता व कल्पना से अतीत यह अज्ञात बज्रवाणी उन सब के हृदय को मर्माहत कर रही थी। सभी "न ययौ न तस्थौ" प्रस्तर की भाँति निश्चल-निर्वाक बैठे थे।

एक सन्यासी आचार्यदेव के श्री अंग की सेवा कर रहा था। अचार्यदेव के यह सब वचन सुनते सुनते उसके हृदय में एक अपूर्व प्रेरणा आई। अत्यंत उत्तेजित होकर उसने कहा—"आप प्रतिदिन ऐसा क्यों कहते हैं? शरीर तो एक न एक दिन अवश्य ही जायेगा। जिस दिन शरीर छोड़ेंगे उसी दिन सब कुछ कह देने से चलेगा। सब महा पुरुष ऐसा ही करते हैं। आपके शरीर की अवस्था देखकर ऐसे ही सब सन्यासी विह्वल हो गये हैं उस पर प्रतिदिन इस प्रकार कहते रहने से उन लोगों की मानसिक स्थिति कैसी होगी?"

यह सुनकर आचार्यदेव भी ततोधिक उत्तेजित होकर बोले—"अभी यदि नहीं कहूंगा तो पीछे से तुम लोग लड़ाई-झगड़ा करोगे"

उक्त सन्यासी—"किसमें यह दुःसाहस है कि आपके आदेश पर हस्तक्षेप करे ?" अनन्तर उत्तेजित होकर "जानेदें" कहकर उन्होंने पूछा—"आरती की प्रस्तुति हुई है ?" सन्यासी ने उत्तर दिया—"हाँ ! हुई है।" साथ ही साथ आचार्यदेव द्रुतगति से उठ खड़े हुये तथा उत्तरीय व दण्ड लेकर विद्युत गति से आरती के आसन पर जाकर बैठते हुये बोले— ले ! आरति कर" सब सन्यासी व्यस्त-त्रस्त होकर पूजा आरती करने लगे। आरती के उपरान्त सब सन्यासियों को शिर स्पर्श कर आशीर्वाद प्रदान किया—तत्पश्चात उसी प्रकार तीव्रगति से कक्ष में जाकर दण्ड, बहिर्वास व उत्तरीय फेंककर शय्या पर शयन कर आर्तनाद करने लगे।

इस दृश्य को देखकर हम सब स्तम्भित हो गये। उनके शरीर की जो स्थिति थी उसमें उन्हें पकड़ कर करवट बदलाया जाता था। चिकित्सक का कहना था कि उठने बैठने से हृदय की गति बन्द (heart fail) हो जाने की आशंका है। ऐसी अवस्था में सहसा इस घटना को देखकर एक ओर तो व्याधि का प्रकोप अधिक होने की आशंका होने लगी परन्तु दूसरी ओर पूजा-आरती ग्रहण करना तथा सबको आशीर्वाद देने के विषय में विचार करने से आचार्य देव में पुनः शरीर धारण करने का संकल्प जाग्रत हुआ है ऐसा इंगित प्राप्त कर आश्वस्त होने लगे। संघ-संतानों का उद्वेग जाता रहा। अन्तर की आशा पूर्ण हुई। आचार्यदेव में शरीर धारण का दृढ़ संकल्प जाग्रत हुआ। उसी दिन से वे स्वस्थ होने लगे। यद्यपि सम्पूर्ण निरामय नहीं हुये, १०३ डिग्री तक ज्वर चढ़ता रहा, उसी स्थिति में देख-सुनकर संघ के प्रधान कार्यालय के लिये बालीगंज अंचल में एक खण्ड भूमि क्रय की गई उसी स्थान पर कलकत्ते का वर्त्तमान आश्रम व कार्यालय स्थापित है।

जन साधारण के सम्मुख महा प्रकाश

पहले ही उल्लेख किया है—१९१६ ई० में सिद्धिलाभ के पश्चात् से प्रति वर्ष माघी पूर्णिमा के दो दिन आचार्यदेव में सर्वनियन्त्री महाशक्ति का पूर्णतम विकास—(जिसको आचार्यदेव ने कहा है अलौकिक तपःशक्ति, तपःतेज, व तपः प्रभाव) होता था।

१९३० ई० में "श्री श्री प्रणव - मठ - प्रतिष्ठा के दिन पहले पहल साधारण जनता में उनकी अलौकिक तपःशक्ति के महाप्रकाश का परिचय प्राप्त हुआ एवं समवेत सहस्रों नर-नारी उनके आशीर्वाद व तपःशक्ति से अभिसिंचित होने लगे।

१९३१ ई० की माघीपूर्णिमा में इस महा प्रकाश ने और भी व्यापक रूप धारण किया। उनकी तपःशक्ति के आकर्षण से इस वर्ष उत्सव में लोगों की उपस्थिति द्विगुण हुई। इस वार प्रायः बीस सहस्र नरनारियों की उपस्थिति में जगद्गुरु धर्मसंस्थापक युगाचार्य के रूप में उन्होंने 'अर्घ्य ग्रहण किया।

संघ के संन्यासी, ब्रह्मचारी-कर्मीवृन्द समन्वित सब दिग्विजय-वाहिनी भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में व ब्रह्मदेश में प्रचार कार्य करके सिद्धपीठ में सम्मिलित हुईं। सबके हृदय में एक अपूर्व भाव संचारित हुआ। संघ के सन्यासीगण ने अपने अपने भावानुसार विभिन्न देशों से, विभिन्न तीर्थों से अभिषेक के लिये पवित्र जल संग्रह किया। कोई रमणीय-छत्र-चामर लाया। कोई सुन्दर हार तथा व्यजन ले आया। किसी ने श्री चरणों के लिये पद्मासन प्रस्तुत किया। कोई पूजा के आसन के लिये सुदृश्य गलीचा ले आया।

किसी ने सुन्दर उष्णीष बनाया। इसी प्रकार परस्पर विचार-विनिमय के विना ही आचार्यदेव की प्रेरणा से अपने अपने संकल्प के अनुसार सब द्रव्य संग्रह करके सिद्धपीठ में उपस्थित हुये। एक सन्यासी के हृदय में 'अर्घ्य-प्रदान' का संकल्प जाग्रत हुआ। और उस प्रसंग के योग्य ही एक भक्ति गीत की रचना हुई। जो आज भी अभिषेक के सुअवसर पर गाया जाता है।

माघी पूर्णिमा के उत्सव के निमन्त्रण पत्र में "आचार्य वरण व अर्घ्य प्रदान" का अनुष्ठान विशेषरूप से जोड़ दिया गया। जिन्हों ने आमन्त्रण-लिपि छपवाई उन्हें उक्त अनुष्ठान के लिये आवश्यक द्रव्यादि हैं या नहीं—यह भी ज्ञात नहीं था। परन्तु यथा समय देखा गया कि आचार्य की प्रेरणा से सभी वस्तुयें प्रस्तुत हैं। माघी-पूर्णिमा के पूर्व दिवस सन्ध्या समय "आचार्य-वरण व अर्घ्य प्रदान" अनुष्ठान से महोत्सव सम्मेलन का आरम्भ किया गया।

त्रिशूलोत्सव

१६२४ ई० से आचार्यदेव ने संघशक्ति के प्रतीकस्वरूप त्रिशूल को सिद्ध-पीठ में स्थापित कर उसकी पूजा की व्यवस्था की। उस समय से प्रति पौष-पूर्णिमा के पुण्य अवसर पर मठ में त्रिशूलोत्सव अनुष्ठित होता है। पौष-पूर्णिमा से भागवती संकल्प-शक्ति आचार्यदेव के अन्तर में संचित व क्रमशः वर्द्धित होती हुई माघी-पूर्णिमा में उसका पूर्ण विकास होता है। अतः त्रिशूलोत्सव-भागवती संकल्प शक्ति का उद्‌बोधनोत्सव है। त्रिशूल भगवत् शक्ति का प्रतीक है। इस उत्सव पर मठ में सहस्रों नरनारियों का समागम होता है। पूर्णिमा के दिन गोधूलि लग्न में सिद्धपीठ से शोभायात्रा के साथ वस्त्रमण्डित, सिंदूर-रंजित, पुष्पमाल से सज्जित त्रिशूल

एक सन्यासी सरपर लेकर आचार्यदेव के साथ मठ के जलाशय में जाता है आचार्यदेव अर्द्धबाह्य स्थिति में मृदु मन्थर गति से अग्रसर होते हैं। साथ साथ सन्यासी नृत्य केसाथ एक बार आगे एक बारपीछे हटते हुये घाट पर पहुंच कर त्रिशूलराज सहित तालाब में मज्जन करता है। त्रिशूल को स्नान कराके उसी प्रकार जुलूस के साथ नवीन वस्त्रादि से सुशोभित कर त्रिशूलराज को सिद्धपीठ में स्थापित किया जाता है। अनन्तर रात्रि में आचार्यदेव के आदेश से सन्यासी त्रिशूल को पूजा आरती करते हैं। आचार्यदेव समवेत नरनारी को आशीर्वाद व शक्तिसंचार करते हैं।

विश्वरूप में पर्यवसान का आभास

अलौकिक आचार्य का जो विराट व्यक्तित्व मध्यान्ह कालीन मार्तण्ड के समान जाज्वल्यमान, अपने तेजःपुन्ज द्वारा जाति व समाज के सर्वक्षेत्रों को नवीन आलोक से उद्भासित कर रहा था, जिनके कर्म चक्र का प्रचण्ड व तीव्रगतिवेग समाज के सर्वश्रेणी की जनता को आकर्षित कर धर्म के आधार पर जातिगठन क्षेत्र में सम्मिलित तथा समन्वित कर रहा था, वह जो सहसा महा-पर्यवसान के निकट आ रहा है यह उनके अन्तेवासी सन्यासी गण की भी कल्पना में नहीं आया। वे लोग केवल दिन-रात्रि आहार-निद्रा विश्राम से उदासीन तथा देहबोध से उर्द्धव् आचार्यदेव के अविराम, अविश्राम प्रचण्ड कर्मलीला को देखकर विस्मित थे। अन्तिम तीन वर्ष निद्रा का सम्पूर्णतया त्याग किया था। स्पष्टतः कहा जाय तो निद्रा व विश्राम का समय ही नहीं था। रात्रि को यदा कदा सम्भवतः २-३ घन्टा द्वार बन्द रहता था, परन्तु उस समय भी देखा जाता था कि वे संकल्पित कर्म के विषय में चिन्तन कर रहे थे।

रात्रि के तीन बजे २-१ जन सन्यासी को साथ लेकर अपने निर्दिष्ट कार्य के लिये निकल जाते थे। दिनभर अविराम परिश्रम व भ्रमण कर रात्रि के १२ बजे आश्रम में प्रत्यावर्त्तन करते थे। साथ में सुराही व एक ग्लास रहता था। कुछ लाई-चना या दो एक संतरा खाकर दिन व्यतीत हो जाता था। अन्तिम दो वर्ष इसी प्रकार अतिवाहित हुये। दिन भर सन्यासी ब्रह्मचारी को कर्म में लगाये रहते थे। स्वयं ही सब काम का निर्देश देते थे। और स्वयं ही तत्त्वावधान भी करते थे। भोजन के विषय में कहने से कहते—"मुझे क्या भोजन चाहिये? मुट्ठी भर चना या लाई से ही मेरा काम चलजाता है। आजीवन केवल भात ही मेरा आहार रहा है, मेरे लिये किसी को कुछ करना नहीं पड़ेगा।" कोई उनके लिये भोजन बनाने के लिये जाने से उसको दूसरे काम में भेजकर कहते थे—"जिस काम के लिये मैं दिन रात परिश्रम करता हूं पलभर विश्राम नहीं है उसके विषय में चिन्ता न कर मेरे लिये भोजन बनाने को जा रहा है। मुझे खिला पिला कर प्रसन्न करना चाहता है। कैसा सेवक है?

दिन भर कर्मीगण को विभिन्न कर्मों में लगा रहे हैं। किसी को पलभर भी विश्राम नहीं देते। ऐसा कि कभी कभी रात के एक दो भी बज जाते थे। अनन्तर अल्प विश्राम करते थे। जब थककर सब कर्मी सो गये तब तीन ही बजे सब को उठाकर कहने लगे—"मैं एक पल भी विश्राम नहीं लेता और तुम लोग सोते रहोगे? उठो! हम लोग तो युद्धक्षेत्र के सैनिक हैं। हम लोगों को विराम-विश्राम नहीं मिल सकता।"

अन्तिम तीन वर्ष चटगाँव से लेकर हरद्वार तक गाँव शहर तथा विभिन्न स्थानों में पुनः पुनः भ्रमण करना पड़ा। एक ही साथ पुरी सेवाश्रम,

काशीतीर्थ सेवाश्रम, गया-सेवाश्रम, प्रयाग सेवाश्रम में यात्री निवास का निर्माण कार्य चल रहा है। बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर-प्रदेश के विभिन्न स्थानों में हिन्दू-सम्मेलन का आयोजन हो रहा है। संघ के अनेक प्रकार धर्म प्रचार व सेवामूलक कार्यावली का तत्त्वावधान स्वयं ही करते हैं। उसी समय विभिन्न स्थानों के हिन्दू-नेतागण के साथ जाति व समाज गठन के विषय में विचार विमर्श चल रहा है। अर्थ के अभाव से संकलित कार्य को इच्छानुरूप गति से अग्रसर न होते देखकर आचार्यदेव कहते "अब समझ रहा हूं कि क्रान्तिकारी दल क्यों डाके डालते थे। जो लोग देश व जाति के लिये जीवन उत्सर्ग करते हैं उन लोगों की सहायता के लिये कोई अर्थ व्यय करना नहीं चाहता। परन्तु अपनी इच्छा से विलास-व्यसन के लिये अपार धन का अपव्यय हो रहा है। हिन्दू-संगठन के लिये सहस्रों कर्मी चाहता हूं परन्तु उनके लिये धन कहाँ है? देश के अनेक धनवान् को समझाना चाहा परन्तु वे कहाँ समझ रहे हैं? देश के असंख्य मठाधीश महन्त अपार धनराशि लेकर बैठे हैं। परन्तु प्राणपाती परिश्रम करने पर भी हम लोगों को धन नहीं प्राप्त होता। एक एक बार विचार आता है कि कलकत्ते की भूमि व आश्रमगृह बेचकर सब धन हिन्दू संगठन के लिये व्यय कर दूं।"

इस प्रकार के अर्थाभाव को देखकर किसी सन्यासी ने एक दो बार आचार्यदेव से कहा कि कुछ थोड़ा योगिक चमत्कार दिखाने से ही प्रचुर धन की प्राप्ति हो सकती है। इसके प्रत्युत्तर में आचार्य ने वज्रगम्भीर स्वर में कहा—"योग शक्ति या आध्यात्मिक शक्ति दिखाकर अर्थोपार्जन करना और वेश्यावृत्ति से धन कमाना एक ही है। समग्र जाति में धर्मभाव व आध्यात्मिक आदर्श विस्तार करने के लिये जो शक्ति है क्या तुच्छ अर्थ प्राप्ति के लिये

उसको व्यय करुँगा ? किसी भी आचार्य ने किसी युग में यह नहीं किया।"

आचार्य के अलौकिक जीवन के अन्तिम कतिपय वर्ष के विषय में कहा जाता है—उस समय उनका शरीर अनेक प्रकार से अस्वस्थ था। मधु-प्रमेह (Diabetes) से शरीर शीर्ण हो रहा था। दोनों समय इनसुलीन व ग्लूकोंस के (injection) दिये जाते थे। भोजन तो नाम मात्र का था। वह भी अनियमित। कभी कभी तो सम्पूर्ण उपवास ही रहता था। चिकित्सक, वैद्य चेतावनी देते देते हैरान हो गये। सन्यासी-सन्तानों का अनुरोध आग्रह, उनकी प्रार्थना सभी व्यर्थ प्राय थी। सर्वदा सतत कर्म के आवर्त्त में संलग्न रख कर सन्यासी गण को अपने महा प्रयाण के विषय में विस्मृत रखते थे।

उस जीर्ण शरीर में अनियम के कारण बेरी बेरी का आक्रमण हुआ। दो वर्ष तक चलता रहा। पैर सूज गये। उनके मना करने पर भी सन्यासी-सन्तानगण चिकित्सक बुलाते थे। जब चिकित्सक ने गम्भीर अवस्था देखकर कहा कि आप तो आत्मघात कर रहे हैं। अन्ततः आप एक मास कलकत्ता में विश्राम करिये हम लोग चिकित्सा करेंगे। चिकित्सक के जाते ही आचार्यदेव-सन्यासियों से कहने लगे—"अभी चिकित्सा करने का अवसर मुझे नहीं है।" रोज ज्वर होने पर भी वे शहरों तथा गाँव गाँव में भ्रमण कर कर्म क्षेत्र की रचना व प्रेरणा दान करने लगे। इस प्रकार दो वर्ष तक यही अवस्था रही। एक दिन भी चिकित्सा या विश्राम का अवसर नहीं प्राप्त हुआ।

'बेरीबेरी' से स्वस्व हो उठे। परन्तु ग्लुकोमा होकर नेत्रों की दृष्टि शक्ति जाती रही। दोनों पैरों में घुटने तक पक्षघात ही गया। (Paralysis

of sensory nerves) पैर के तलवे में विस्फोटक व छाले निकलने लगे। उसपर भी चिकित्सा व विश्राम का नाम तक नहीं और इसके विषय में प्रसंग उठाते ही वे कहते—"मेरे पैर या नेत्र जायें चाहे रहें, इस विषय पर विचार करने का समय नहीं है। जिस दिन शय्याशायी होऊंगा उस दिन देखा जायेगा।"

बाहर के लोग जब देखते—वे विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न कार्यों में व्यस्त हैं—साथ में समस्त प्रयोजनीय सामिग्री के साथ विराट प्रचारवाहिनी है और सब स्थानों पर प्रत्येक कार्य में, सब महोत्सव सम्मेलन में, सब हिन्दू-सम्मेलन में उपस्थित रहकर अविराम परिश्रम करते हैं—तब किसी को लेशमात्र भी विचार नहीं आता था कि वे अस्वस्थ हैं। सम्पूर्ण देहज्ञान से रहित नहीं होने से कभी कोई ऐसा जीर्ण अनेक रोगों से आक्रान्त शरीर लेकर अविरत कर्म नहीं कर सकता। भागवती-शक्ति के आधार स्वरूप युगावतारों के जीवन में ही यह "अतन्द्रित" कर्म-प्रवाह देखा जाता है।

इस समय की अवस्था पर विचार करते हुये सन्यासीगण कहा करते थे—"श्रान्त दुर्बल व अशक्त घोड़े को जैसे कोड़ा मारकर चलाया जाता है वैसे ही आचार्यदेव व्याधिग्रस्त, जीर्ण, अशक्त शरीर को संकल्प के वेत्राघात से चला रहे हैं।" उनकी अविराम कर्मोन्मादना देखकर ज्ञात होता था—गन्तव्य स्थान अभी भी मानों बहुत दूर है—परन्तु सन्ध्या सन्निकट है यह देखकर जैसे यात्री अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर तीव्रगति से लक्ष्य तक पहुंचने का प्राण-प्रण प्रयत्न करता है। उसी प्रकार उद्वेग व व्याकुलता के साथ आचार्य देव संकल्पित परिकल्पना के मार्ग पर तीव्रगति से अग्रसर हो रहे हैं। कभी कभी उनके जीवन के विषय में आशंका होने पर भी ऐसी अशुभ-अवान्छनीय कल्पना को

किसी ने भी हृदय में स्थान न दिया। किसी को भी ऐसा नहीं लगता था कि वे संकल्पित कार्य को समाप्तकर महाप्रयाण का आयोजन कर रहे थे। हम लोग विचार करते थे—"शरीर व्याधिग्रस्त, जीर्ण, अशक्त, अवसन्न होने से लोग विश्राम लेते हैं. कर्म में शिथिलता आती है। परन्तु आचार्यदेव की सब विपरीत नीति है। शरीर जितना ही जीर्ण और अशक्त हो रहा है, कर्म का वेग, उतना ही तीव्रतम होता जा रहा है। शरीर जब स्वस्थ था तब कभी कभी विश्राम लेते थे। और अब विश्राम की आवश्यकता है परन्तु विश्राम का नाम भी नहीं है। इस समय वे सम्पूर्ण गम्भीर रहते थे। कभी किसी प्रकार व्यक्तिगत दोष त्रुटि का प्रश्न उठाने से क्रुद्ध होकर कहते थे:— "अब मुझे किसी ओर ध्यान देने का समय नहीं है। मैं विद्युतगति से चल रहा हूँ। जो चल सकता है वह चले। नहीं तो पड़ा रहे—मुझे देखना नहीं है। बहुत दिन तक तुम लोगों की रुचि व इच्छा को सहन किया है। अब और नहीं होगा। समय अल्प है। मुझे इतने में ही संकल्पित कार्य पूर्ण करना है।"

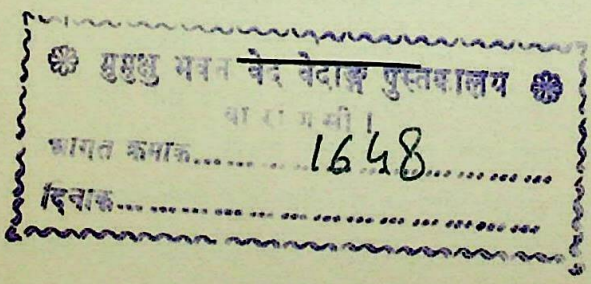
सुश्रुत भवन वेद वेदाङ्ग पुस्तकालय
आगत क्रमांक..... 1648.....
दिनांक.....

विश्वरूप में पर्यवसान

ई० सन् १९४० में यह भौतिक शरीर आचार्यदेव के अलौकिक भाव को धारण करने में पूर्णतया असमर्थ हो गया। हिन्दू-धर्म, हिन्दू-समाज, हिन्दू-जाति की कल्याण चिन्ता व चेष्टा, अधःपतित क्लीवता व दुर्बलता से विपर्यस्त, हताशा व निराशा से अर्द्धमृत हिन्दू-जाति के हृदय में शौर्य-वीर्य की प्रेरणा संचारित करने की तीव्र व्याकुलता आचार्य के हृदय में क्रमशः प्रबलतर होने लगी। रक्त मांस के इस स्थूल शरीर का बोध उन्हें न रहा।

दिसेम्बर मास के पहले भाग में वे महासंकल्प की प्रेरणा लेकर सिद्ध पीठ में उपस्थित हुये। संकल्पमय स्थूल शरीर के साथ आचार्यदेव का कोई सम्बन्ध नहीं रहा। भागवती संकल्प-शक्ति का विराट विश्वरूप धारण कर वे हिन्दू-जाति के विराट् शरीर में समाहित होकर स्थित होगये।

क्षमा प्रार्थना

हे आचार्य! तुम्हारी अनन्त अहैतुकी दिव्यजन्म व जीवन लीला वर्णन करने में असंख्य अपराध हुये हैं! इस धृष्टता को तुम क्षमा करो।

"तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायम्।
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्॥
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः।
प्रियः प्रयायार्हसि देव सोढ़ुम्॥

ॐ श्री श्री प्रणवार्पणमस्तु

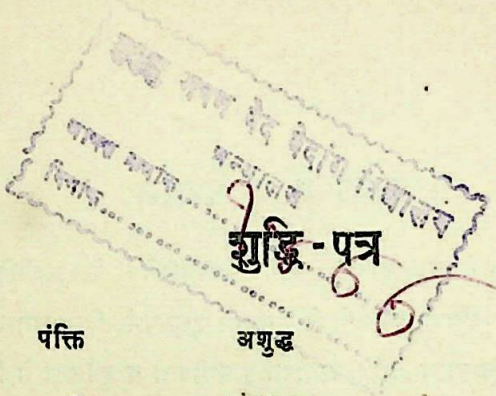

शुद्धि-पत्र

पृष्ट	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४२	२	संगठन	संघ-गठन
५१	१८	साद संग्रान	सदा संग्राम
६३	६	द्विदिव्यभाव	दिव्यभाव
६४	३	शिष्यास्त्	शिष्यास्तु
६८	११	अभ्यस्त थे	अभ्यस्त नहीं थे
७०	१३	मनोरथ कर	मनोरथ होंगे
८२	४	गोमुखी गङ्गर नितांत	गोमुखी-गङ्गर-निसृता
९२	१	सविचार	विचार
९९	१५	रासिपूर्णिमा	रासपूर्णिमा
१०३	१३	आवश्यभावी	अवश्यम्भावी
१०४	५	दहात्म बुद्धि	देहात्म बुद्धि
११४	९	कर्मनीयता	कमनीयता
११९	१	गृहस्थ्य	गार्हस्थ्य
११९	२	शिक्षा	शक्ति
१३६	८	को स्थान	को वैसे ही स्थान
१४९	१४	पार्थकया पार्थकय है	क्या पार्थक्य है ?
२०३	१	स्वक्षण	आत्मरक्षा

—:○:—